दशवैकालिक सूत्र

अनुवादक—

पं. श्रीघेवरचन्दजी बांठिया, वीरपुत्र, जैन न्यायतीर्थ,

व्याकरणतीर्थ, सिद्धांत शास्त्री

प्रकाशक—

श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी
जैन संस्कृति रक्षक संघ
सैलाना (म. प्र.)

मूल्य लागतमात्र १-२५

द्वितीयावृत्ति २०००

वीर सवत् २४९०
विक्रम सवत् २०२०
सन् १९६४

मुद्रक—श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस सैलाना

प्रारंभिक निवेदन

जिस प्रकार आचारांग सूत्र अनगार धर्म का प्रतिपादक है, उसी प्रकार दशवैकालिक सूत्र भी निर्ग्रंथ धर्म के आचार का विधायक सूत्र है। इसका ज्ञान साधु साध्वी को तो होना ही चाहिये, पर श्रावक श्राविकाओ को भी इस सूत्र की स्वाध्याय करके इसमे बताये हुए विधि-विधानों से अवगत होना आवश्यक है, जिससे वे अनगार चारित्र धर्म को समझ सके, निर्ग्रंथ गुरु वर्ग के आचार–विधि निषेध से परिचित हो सकें। इस सूत्र के पठन मनन से धार्मिक जानकारी बढेगी और त्यागी वर्ग के सयम पालन मे सहायक हो सकेगे। बहुत से उपासक, त्यागियों के असंयम के निमित्त बनते है, इसका कारण स्वार्थ और पक्ष व्यामोह के अतिरिक्त उनके आचार विचार से अनभिज्ञ होना भी है। इस सूत्र का सदुपयोग उस कारण को दूर करने में सहायक होगा।

दशवैकालिक सूत्र का महत्व भी सर्व स्वीकृत है। जिस

प्रकार सुखविपाक, उत्तराध्ययन और नन्दीसूत्र का स्वाध्याय अधिक होता है और कंठाग्र भी किया जाता है, उसी प्रकार दशवैकालिक भी कंठाग्र किया जाता है और इसका स्वाध्याय भी अधिक होता है और इस उपयोगिता के कारण ही इसकी अधिक आवृत्तियें हुई है। नवदीक्षितो को तो यह खास अध्ययन कराया जाता है।

त्यागीवर्ग के आचार का विधान जैसा जिनागमों में है वैसा जैनेतर शास्त्रो मे नही है। जिस प्रकार वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन में, तत्त्व निरूपण मे, और धर्म-स्वरूप प्रतिपादन मे जैन धर्म अजोड़ और सर्वोपरि है, उसी प्रकार श्रमण जीवन के पवित्र आचार की निर्दोष विधि भी जिनागमो की सर्वोत्तम विशिष्टता है।

जिनागमो के सस्ते सस्करण निकालकर धर्मप्रिय जनता को स्वाध्याय रसिक बनाना और उनकी धर्म भावना को विकसित कर आत्महित मे सहायक होना साधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ के उद्देश्य की पूर्ति मे यह सूत्र प्रकाशित हो रहा है।

इसका हिंदी अनुवाद पं. श्री घेवरचदजी सा. बांठिया ने किया है। जो स्वयं साधु हो गये हैं और आदर्श सयमी बहुश्रुत पं. मुनिराजश्री समर्थमलजी महाराज सा के सुशिष्य है और चारित्र की आराधना कर रहे हैं। प्रथम आवृत्ति स्वाध्याय प्रेमियो के लिए बहुत उपयोगी हुई। इसकी प्रतियां निकल जाने के बाद मांग बनी ही रहती थी। दूसरे कामो मे

लग जाने के कारण दूसरी आवृत्ति लम्बे समय के बाद अब निकाली जा रही है। पहली आवृत्ति की अपेक्षा दूसरी में शुद्धि का विशेष ध्यान रक्खा गया है। इसका कागज भी बढिया है और टाइप भी पहले की अपेक्षा अच्छे और नये है। इसका बाइडिंग भी पक्का बनादिया गया है। पहले की अपेक्षा कुछ पृष्ठ भी बढ गये है।

इसका मूल्य पहले आठ आना था, वह लागत से भी कम ही था। इस बार लागत मूल्य लगाया गया है। बढ़िया कागज और पक्के बाइडिंग के कारण मूल्य १-२५ आया है।

हमे पूर्ण आशा है कि निर्ग्रन्थ संस्कृति के अनन्य प्रेमी धर्म बन्धु, धर्म प्रचार में और संस्कृति रक्षण में हमें पूर्ण सहयोग प्रदान करेगे।

विनीत

माणकलाल पोरवाड एडवोकेट–प्रमुख

रतनलाल डोशी–प्रधान मन्त्री

बाबूलाल सराफ–मन्त्री

जशवंतलाल शाह–मंत्री

अस्वाध्याय

निम्न लिखित चौंतीस कारण टालकर स्वाध्याय करना चाहिए।

आकाश सम्बन्धी १० अस्वाध्याय	कालमर्यादा
१ बड़ा तारा टूटे तो	एक प्रहर
२ उदय अस्त के समय लाल दिशा	जबतक रहे
३ अकाल में मेघ गर्जना हो तो	दो प्रहर
४ ,, बिजली चमके तो	एक प्रहर
५ ,, बिजली कड़के तो	दो प्रहर
६ शुक्ल पक्ष की १, २, ३ की रात।	प्रहर रात्रि तक
७ आकाश में यक्ष का चिन्ह हो।	जब तक दिखाई दे।
८-९ काली और सफेद धूंअर।	जब तक रहे
१० आकाश मण्डल धूलि से आच्छादित हो	,,

औदारिक सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

११-१३ हड्डी, रक्त और मांस, ये तिर्यञ्च के ६० हाथ के भीतर हो। मनुष्य के हों तो १०० हाथ के भीतर हो। मनुष्य की हड्डी यदि जली या धुली न हो, तो

बारह वर्ष तक।

१४ अशुचि की दुर्गन्ध आवे या दिखाई दे तब तक।

१५ स्मशान भूमि— सौ हाथ से कम दूर हो, तो।

१६ चन्द्रग्रहण—खंड ग्रहण में ८ प्रहर, पूर्ण हो तो १२ प्रहर

१७ सूर्य ग्रहण " १२ " १६ "

१८ राजा का अवसान होने पर, जब तक नया राजा घोषित न हो।

१९ युद्ध स्थान के निकट। जब तक युद्ध चले।

२० उपाश्रय में पंचेन्द्रिय का शव पड़ा हो। जब तक पड़ा रहे।

२१–२५ आषाढ़, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा दिन रात

२६–३० इन पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदा "

३१-३४ प्रातः, मध्यान्ह, संध्या और अर्द्ध रात्रि। १-१ मुहूर्त।

उपरोक्त अस्वाध्याय को टालकर स्वाध्याय करना चाहिए। खुले मुंह नहीं बोलना तथा दीपक के उजाले में नहीं बांचना चाहिए।

नोट—मेघ गर्जनादि मे अकाल, आर्द्रा नक्षत्र से पूर्व और स्वाति से बाद का माना गया है।

शुद्धि पत्र

पृष्ट	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३	१६	रूढपइट्ठसु	रूढपइट्ठेसु
३३	१७	हरियपइट्ठसु	हरियपइट्ठेसु
५५	१७	सेढिय	सेडिय
५५	१८	ममसट्ठ	मसंसट्ठे
५५	२०	स	न
१०८	१२	एयमट्ठ	एयमट्ठं
१८४	१६	तवमहिट्ठुज्जा!	तवमहिट्ठिज्जा
१६४	२	अक्कुट्ठ	अक्कुट्ठे
२१५	११	सवच्छरं	संवच्छरं

इसके अतिरिक्त कुछ स्थानों पर आधे क-'क' स्पष्ट नही आसके, जिससे 'व' जैसे दिखाई देते है। जैसे—

पृ १३ प. २० मक्खाया, पृ. ३५ पं. ७ भिक्खु पृ. ५५ पं. १७ कुक्कु, पृ १३० प. २० अंतलिक्खत्ति, इन्हे भी ठीक कर के स्वाध्याय करें।

"णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स"

पूर्वधर श्री शय्यंभवसूरि विरचित

दशवैकालिक सूत्र

'दुमपुप्फिया' नामक प्रथम अध्ययन

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

अहिंसा–प्राणियो की हिसा न करना तथा प्राणियो की रक्षा करना, सयम और तप रूप श्रुत चारित्र धर्म मंगल–कल्याणकारी और उत्कृष्ट–श्रेष्ठ है। जिस पुरुष का मन सदा धर्म मे लगा रहता है उसको देवता भी नमस्कार करते हैं।१।

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥२॥

जिस प्रकार भ्रमर वृक्ष के फूलो मे से रस को पीता है और फूल को कुछ भी कष्ट नही पहुँचाता है। इस प्रकार

फूल को पीड़ित नही करता हुआ अपनी आत्मा को सन्तुष्ट कर लेता है ॥२॥

एमे ए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥३॥

इसी प्रकार लोक मे ये जो द्रव्य परिग्रह और भाव परिग्रह से मुक्त श्रमण–तपस्वी साधु हैं, वे फूलो में भ्रमर के समान दाता द्वारा दिये हुए आहारादि की गवेषणा मे रत रहते हैं ॥३॥

वयं च वित्ति लब्भामो, ण य कोइ उवहम्मइ ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥४॥

गुरुमहाराज के सामने शिष्य प्रतिज्ञा करते हैं–जिस प्रकार फूलो में भ्रमर अपना निर्वाह करते है, उसी प्रकार हम साधु भी गृहस्थो द्वारा अपने निज के लिए बनाये हुए आहारादि की भिक्षा ग्रहण करेगे, जिससे किसी जीव को कष्ट नही पहुँचे ।

महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो । त्ति बेमि ।

जो तत्त्व के जानने वाले हैं, और भ्रमर के समान फूलादि के प्रतिवन्ध से रहित है तथा अनेक घरों से थोडा थोड़ा आहारादि लेने मे सन्तुप्ट है, एवं इन्द्रियो के दमन करनेवाले है, इसीलिए वे साधु कहलाते है ॥५॥

इति प्रथम अध्ययन सपूर्ण

'सामण्णपुव्वयं' नामक दूसरा अध्ययन

कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए ।
पए पए विसीअंतो, संकप्पस्स वसं गओ ॥१॥

जो कामभोगो का त्याग नही करता है, वह संकल्प विकल्पो के अर्थात् इच्छाओ के वश मे होकर पद पद पर खेदित होता हुआ, श्रमण धर्म का अर्थात् साधुपने का पालन कैसे कर सकता है ? अर्थात् नही कर सकता है ।

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥२॥

जो पुरुष, पराधीन होने के कारण वस्त्र, गन्ध, अलंकार—आभूषण और स्त्रियों को तथा शय्या आदि को नही भोगता है, वह वास्तव मे त्यागी नही कहा जाता है ।

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥३॥

जो पुरुष प्राप्त हुए कान्त-मनोहर, प्रिय, भोगने योग्य और स्वाधीन भोगो को उदासीनता पूर्वक त्याग देता है, वह निश्चय से त्यागी कहलाता है ॥३॥

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।

न सा महं नो वि अहं वि तीसे,
इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं ॥४॥

समभाव पूर्वक सयम मार्ग मे विचरण करते हुए साधु का मन यदि कदाचित् सयम मार्ग से बाहर निकल जाय, तो उस साधु को ऐसा विचार करना चाहिए कि वह स्त्री मेरी नही है और मैं भी उसका नही हूँ। इस प्रकार विचार करके उस स्त्री पर से राग भाव को दूर करे ॥४॥

आयावयाही चय सोगमल्लं।
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ॥
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं।
एवं सुही होहिसि संपराए ॥५॥

आतापना लो और तपस्या से शरीर को सुखा डालो। सुकुमारता को छोडो। कामभोगो की लालसा को दूर करो। ऐसा करने से निश्चय ही दु ख दूर होगा। द्वेष को नष्ट करो। राग को दूर करो। ऐसा करने से ससार मे सुखी होओगे।

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥६॥

अगन्धन कुल में उत्पन्न हुए सर्प, जलती हुई, और धूआ निकलती हुई, दु सह्य अग्नि में गिर कर मर जाना तो पसन्द करते है, किन्तु वमन किये हुए विष को वापिस चूसना पसन्द नही करते है ॥६।

धिरत्थु तेऽजसो कामी,जो तं जीवियकारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥७॥

हे अपयश के अभिलाषी ! तुझे धिक्कार हो, जो तू असयम रूप जीवन के लिए वमन किये हुए—त्यागे हुए काम भोगो को पुन: ग्रहण करने की इच्छा करता है। इसकी अपेक्षा तो तेरा मरना श्रेष्ठ है ॥७॥

अहं च भोगरायस्स, तं च सि अंधगवण्हिगो ।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥८॥

मैं (राजमती) भोजराज उग्रसेन की पुत्री हूँ, और तुम अन्धकवृष्णि—समुद्रविजय के पुत्र हो । अत गन्धन कुल में उत्पन्न हुए सर्प के समान हमे नही होना चाहिए । इसलिए हे मुने ! चित्त की चंचलता को दूर करके मन को सयम में स्थिर रखते हुए, संयम का पालन करो ॥८॥

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वाया विद्धुव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥९॥

हे मुने ! तुम जिन जिन स्त्रियो को देखोगे, यदि उन उन पर बुरे भाव करोगे, तो वायु से प्रेरित हड नामक वृक्ष की भाँति अस्थिर आत्मा वाले हो जाओगे ॥९॥

तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥१०॥

वह रथनेमि, उस संयमवती—साध्वी राजमती के सुभाषित वचनो को सुन कर, जैसे अकुश से हाथी अपने स्थान पर आ जाता है, वैसे ही वह भी चारित्रधर्म मे स्थिर हो गया।१०।

एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो । त्ति बेमि ।

जो सबुद्ध—तत्वज्ञ हैं, पाप से डरने वाले हैं, पण्डित हैं और विचक्षण—चतुर—चारित्र के परिणाम वाले है, वे उसी प्रकार भोगों से निवृत्त हो जाते हैं, जिस प्रकार पुरुषोत्तम रथनेमि, भोग भावना को त्याग कर चारित्र में रमण करने लगे ॥११॥

॥ इति द्वितीय अध्ययन सम्पूर्ण ॥

'खुड्डियायार' नाम तीसरा अध्ययन

इस अध्ययन में साधु के ५२ अनाचारों का वर्णन किया जाता है, जो कि निर्ग्रन्थ महर्षियों के आचरण करने योग्य नही हैं—

संजमे सुट्ठिअप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं ।
तेसिमेयमणाइण्णं, निग्गंथाण महेसिणं ॥१॥

संयम मे भलीभाँति स्थित आत्मा वाले, सांसारिक

बन्धनो से रहित, छह काय जीवों के रक्षक, उन परिग्रह रहित महर्षियो के लिए, ये आगे कहे जाने वाले अनाचीर्ण अर्थात् अनाचार है। ये निग्रन्थो के लिए त्याज्य है ॥१॥

उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य ।
राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे ॥२॥

१ औद्देशिक, २ साधु के लिए खरीदा हुआ, ३ किसी का आमन्त्रण स्वीकार कर—उसके घर से आहारादि लेना अथवा प्रतिदिन एक ही घर से आहारादि लेना, ४ साधु के लिए सामने लाया हुआ आहारादि लेना, ५ रात्रिभोजन, ६ स्नान करना, ७ सुगन्धित पदार्थो का सेवन करना, ८ फूलादि की माला धारण करना, और ९ पंखा आदि से हवा करना।

संनिही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए ।
संवाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥

१० घी गुड़ आदि वस्तुओ का संचय करना, ११ गृहस्थ के बर्त्तन में भोजन करना, १२ राजपिण्ड का ग्रहण करना, १३ 'तुमको क्या चाहिए' इस प्रकार याचक से पूछ कर जहां उसकी इच्छानुसार दान दिया जाता हो ऐसी दानशाला आदि से आहारादि लेना, १४ मर्दन करना, १५ शोभा के लिए दांत धोना, १६ गृहस्थों से सावद्य कुशल प्रश्न आदि पूछना, १७ दर्पण आदि में अपना मुख आदि देखना, ये अनाचार हैं ॥३॥

अट्ठावए य नालीए, छत्तस्स य धारणट्ठाए ।
तेगिच्छं पाहणा पाए, समारंभं च जोइणो ॥४॥

१८ जूआ खेलना, तथा नालिका अर्थात् चौपड़ पाशा शतरज आदि खेलना, १९ छत्र आदि धारण करना, २० रोगादि का इलाज करना, २१ पैरो मे जूते आदि पहनना, २२ अग्नि का आरम्भ करना, ये मुनि के लिए अनाचरणीय हैं ।।४।।

सिज्जायरपिंडं च, आसंदी पलियंकए ।
गिहंतरनिसिज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणि य ।।५।।

२३ शय्यातर का आहारादि लेना, २४ बेत आदि के बने हुए आसनादि पर बैठना, २५ पलग पर बैठना, २६ गृहस्थ के घर बैठना, या दो घरो के बीच बैठना, २७ मैल उतारने के लिए शरीर पर उबटन करना, ये मुनि के लिए अनाचरणीय हैं ।।५ ।

गिहिणो वेयावडियं, जा य आजीववत्तिया ।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ।।६।।

२८ गृहस्थ की वैयावच्च करना अर्थात् उसकी सेवा शुश्रूषा करना, उसे आहारादि लाकर देना । २९ अपनी जाति कुल आदि बताकर आजीविका करना । ३० जो अच्छी तरह से प्रासुक नही हुआ है ऐसे मिश्र अन्न पानी आदि का सेवन करना । ३१ रोग अथवा भूख से पीडित होने पर पहले भोगे हुए भोगो को याद करना तथा गृहस्थ की शरण चाहना, ये मुनि के लिए अनाचार हैं ।।६।।

मूलए सिंगबेरे य, उच्छुखंडे अनिव्वुडे ।
कंदे मूले य सच्चित्ते, फले बीए य आमए ।।७।।

३२ सचित्त मूला, ३३ अदरख, ३४ इक्षुखण्ड–गडेरी, ३५ कन्द–वज्रकन्द आदि, ३६ सचित्त जड, ३७ फल–ग्राम नीबू आदि, ३८ तिल ग्रादि सचित्त बीजो का सेवन । उपरोक्त सब सचित्त वस्तुग्रो का सेवन करना निग्रन्थो के लिए ग्रनाचार हैं।

सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य ग्रामए ।
सामुद्दे पंसुखारे य, कालालोणे य ग्रामए ॥८॥

३९ सचित्त सचल नमक, ४० सैन्धव–सैधा नमक, ४१ रोमा नमक–रोमक क्षार, ४२ समुद्र का नमक, ४३ ऊषर नमक, ४४ काला नमक । उपरोक्त सब सचित्त नमक का सेवन करना निर्ग्रन्थो के लिए अनाचार हैं ॥८॥

धूवणे त्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे य, गायाब्भंगविभूसणे ॥९॥

४५ अपने वस्त्र आदि को धूप देकर सुगन्धित करना, ४६ ग्रौषधि ग्रादि से वमन करना, ४७ मलादि की शुद्धि के लिए वस्ती-कर्म करना, ४८ जुलाब लेना, ४९ ग्राँखो मे ग्रजन लगाना, ५० दतौन से दाँत साफ करना, मस्सी ग्रादि लगाना, ५१ शतपाक सहस्रपाक ग्रादि तैलो से शरीर की मालिश करना, ५२ शरीर को विभूषित करना । ये सब निर्ग्रन्थो के लिए अनाचार हैं ॥९॥

सव्वमेयमणाइण्णं, निग्गंथाण महेसिणं ।
संजमम्मि य जुत्ताणं, लहुभूयविहारिणं ॥१०॥

संयम और तप से युक्त और वायु के समान अप्रतिबंध विहारी निर्ग्रन्थ महर्षियो के लिए ये सब अनाचार हैं ॥१०॥

पंचासवपरिण्णाया, तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥११॥

निर्ग्रन्थ, पाँच आश्रवों के त्यागी, मन वचन और काया की गुप्ति से युक्त, छह काय जीवो की रक्षा करने वाले, पॉच इन्द्रियो का निग्रह करने वाले, परीषह उपसर्ग को सहन करने मे धीर और सरल स्वभावी होते है ॥११॥

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥१२॥

प्रशस्त समाधिवन्त संयमी मुनि, ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की आतापना लेते है, हेमन्त ऋतु मे-शीत काल मे अल्प वस्त्र रखते हैं अथवा वस्त्रो को दूर करके शीत की आतापना लेते है और वर्षा ऋतु में कछुए की तरह इन्द्रियो को गोपन करके रहते हैं ॥१२॥

परीसहरिऊदंता, धूयमोहा जिइंदिया ।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥१३॥

परीषह रूपी शत्रुओ को जीतने वाले, मोह-ममता के त्यागी, पाँच इन्द्रियो को जीतनेवाले अर्थात् वश मे रखने वाले, महर्षि, सब दु:खों का नाश करने के लिए पराक्रम करते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए सयम और तप मे प्रवृत्ति करते हैं।

दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहित्तु य ।
के इत्थदेवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया ॥१४॥

संयम की दुष्कर क्रियाओ को करके और दुस्सह परीपह उपसर्गो को सहन करके कितनेक महात्मा देवलोको में उत्पन्न होते हैं और कितनेक महात्मा कर्म रूपी रज से रहित होकर इसी भव में सिद्ध हो जाते है—मोक्ष चले जाते हैं ।

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडे । त्ति बेमि ।

मोक्ष मार्ग के साधक, छह काय जीवो के रक्षक मुनि, संयम से और तप से पहले बंधे हुए कर्मों का क्षय करके निर्वाण प्राप्त करते हैं ।

॥ इति क्षुल्लकाचार कथा नामक तीसरा अध्ययन समाप्त ॥

'छज्जीवणिया' नामक चौथा अध्ययन
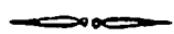
इस अध्ययन में छह काय जीवों का स्वरूप और उनकी रक्षा का उपाय बतलाया जाता है ।

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं

कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपण्णत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ॥१॥

हे आयुष्मन् शिष्य ! मैने सुना है कि उन भगवान् ने इस प्रकार फरमाया है कि इस जिन शासन मे छज्जीवणिया–छह काय के जीवों का कथन करने वाला अध्ययन है । श्रमण तपस्वी, काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी ने सम्यक् प्रकार से उसकी प्ररूपणा की है, सम्यक् प्रकार से कथन किया है, भली प्रकार से बतलाया है। उस अध्ययन का पढना,पढाना, सुनना एव चिन्तन मनन करना आत्मा के लिए कल्याणकारी है, क्योकि उस अध्ययन को पढने से धर्म का बोध होता है ।१।

गुरु महाराज के इस प्रकार फरमाने पर शिष्य के मन में उस अध्ययन के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई । इसलिए शिष्य प्रश्न करता है–

कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपण्णत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ? ।२।

हे भगवन् ! वह छज्जीवणिया नामक अध्ययन कौनसा है, जो कि काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है । जिसका अध्ययन करना आत्मा के लिए कल्याणकारी है, क्योकि उस अध्ययन को पढने से धर्म का बोध होता है ॥२॥

शिष्य के प्रश्न को सुन कर अब गुरु महाराज फरमाते है–

इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपण्णत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती।।३।।

हे आयुष्मन् शिष्य ! वह छज्जीवणिया अध्ययन यह है जिसको कि काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है। जिसका अध्ययन करना आत्मा के लिए कल्याणकारी है, क्योकि उसके अध्ययन से धर्म का बोध होता है।३।

अब गुरु महाराज उस छह जीवनिकाय का नाम बतलाते हुए कथन करते हैं–

तंजहा–पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तसकाइया ।।

यथा–जैसे कि पृथ्वीकायिक–पृथ्वीकाय के जीव, अप्कायिक–अप्काय के जीव, तेजस्कायिक–अग्निकाय के जीव, वायुकायिक–वायुकाय के जीव, वनस्पतिकायिक–वनस्पति के जीव और त्रसकायिक–त्रसकाय के जीव। ये छह जीवनिकाय हैं ।।

पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। तेऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। वाऊ

चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थ परिणएणं। वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥४॥

शस्त्र परिणत के सिवाय अर्थात् जहाँ शस्त्र परिणत हुआ है ऐसी पृथ्वीकायादि को छोड़ कर शेष पृथ्वीकाय अप्काय तेउकाय वायुकाय और वनस्पतिकाय सचित्त कही गई है। वह अनेक जीवों वाली है। उसमे अनेक जीव पृथक् पृथक् रहे हुए हैं।

पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर सचित्त हैं। वे अनेक जीवरूप हैं। उन जीवो का अस्तित्व पृथक् पृथक् है। पृथ्वी-कायादि के जो जो शस्त्र है उनसे जबतक परिणत न हो जाय अर्थात् दूसरा शस्त्र न लग जाय तबतक वे सचित्त रहते हैं। शस्त्र परिणत हो जाने पर वे अचित्त हो जाते हैं ॥४॥

अब आगे वनस्पतिकाय का विशेष वर्णन किया जाता है—

तंजहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया बीयरूहा संमुच्छिमा तणलया वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंतमक्खाया अणेग जीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं ॥५॥

वह इस प्रकार है—अग्रबीज अर्थात् ऐसी वनस्पति जिसका बीज अग्रभाग पर होता है, जैसे कोरंट का वृक्ष। मूलबीज—ऐसी वनस्पति जिसका बीज मूल भाग में होता है, जैसे कन्द आदि। पर्वबीज—ऐसी वनस्पति जिसका बीज पर्व

अर्थात् गांठ में होता है, जैसे गन्ना-ईख आदि। स्कन्धबीज- ऐसी वनस्पति जिसका बीज स्कन्ध मे होता है, जैसे बड़ पीपल आदि। बीजरुह-बीज से उगने वाली वनस्पति, जैसे चौवीस प्रकार के धान्य। सम्मूर्च्छिम वनस्पति अर्थात् विना बीज के अपने आप उगने वाली वनस्पति, घास आदि। तृण लता आदि, ये सब वनस्पतिकायिक हैं। उसमें अनेक जीव है। वे भिन्न भिन्न सत्ता वाले है अर्थात् पृथक् पृथक् रहे हुए हैं। शस्त्रपरिणत को छोड़ कर बीज और बीज से उत्पन्न मूल, शाखा, प्रतिशाखा, पत्र, पुष्पादि सहित वनस्पति सचित्त कही गई है।

पृथ्वीकायादि पांचो काय के शस्त्र दो प्रकार के है- द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र। द्रव्यशस्त्र तीन प्रकार का है- स्वकाय शस्त्र, परकाय शस्त्र और उभय काय शस्त्र। द्रव्य शस्त्रों के उदाहरण यथा योग्य समझ लेना चाहिए। भाव शस्त्र मन वचन और काया के अशुभ योग और अविरति है।

यह पाँच स्थावर का वर्णन पूरा हुआ। अब क्रम प्राप्त त्रसकाय का वर्णन किया जाता है;-

से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा तंजहा-अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा संमुच्छिमा उब्भिया उववाइया। जेसिं केसिं च पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइविण्णाया जे य कीडपयंगा, जा य कुंथु पिवीलिया

सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचिंदिया सव्वे तिरिक्खजोणिया सव्वे णेरइया सव्वे मणुआ सव्वे देवा सव्वे पाणा परमाहम्मिया। एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाओत्ति पवुच्चइ ॥६॥

अब ये आगे कहे जाने वाले त्रस प्राणी है, वे अनेक तथा बहुत प्रकार के है। जैसे कि अण्डज—अण्डे से उत्पन्न होने वाले, पक्षी आदि। पोतज—पोत से लिपटे हुए अर्थात् कोथली सहित उत्पन्न होने वाले हाथी चमगादड़ आदि। जरायुज—गर्भ से जरायुसहित पैदा होने वाले गाय भैस मनुष्य आदि। रसज—रस के बिगडने से उसमे पैदा होने वाले जीव। सस्वेदज—पसीने से पैदा होने वाले जीव, जू लीख खटमल आदि। सम्मूर्च्छिम—गर्भ के बिना एक साथ बहुत से पैदा होने वाले जीव, जैसे कीडा, पतंग आदि। उद्भिज अर्थात् भूमि को फोड कर पैदा होने वाले जीव, जैसे टिड्डी आदि। औपपातिक—उपपात से पैदा होनेवाले, जैसे देव और नारकी। देव, शय्या मे उत्पन्न होते है और नारकी जीव, कुम्भी मे पैदा होते हैं।

त्रस जीवो के खास लक्षण ये है—जिन किन्ही प्राणियो के सामने आना, पीछे हटना, शरीर को सकुचित कर लेना, शरीर को फैला देना, शब्द करना, इधर उधर फिरना, दुःख से घबराना, भागना और आने जाने रूप आगति गति को जानना आदि।

इनमे जो कीड़े पतगे, कुंथुवा और पिपीलिका अर्थात्

चीटियाँ आदि हैं, वे सब बेइन्द्रिय जीव, सब तेइन्द्रिय जीव, सब चउरिन्द्रिय जीव, सब पचेन्द्रिय जीव, सब तिर्यञ्च, सब नैरयिक जीव, सब मनुष्य, सब देव, ये सब जीव, सुख चाहने वाले हैं, परम सुख के अभिलाषी हैं। यह छठा जीवनिकाय त्रसकाय कहलाता है।

अब इनकी हिंसा से निवृत्त होने का उपदेश दिया जाता है–

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारंभंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥७॥

मुनि इन छह जीवनिकायों के हिंसारूप दण्ड का स्वय आरम्भ न करे, दूसरों से हिंसारूप दण्ड का आरम्भ न करावे और हिंसारूप दण्ड का आरम्भ करते हुए दूसरों को भला भी न समझे अर्थात् उनकी अनुमोदना भी नही करे।

अब शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि हे भगवन् ! मैं यावज्जीवन–जीवनपर्यन्त तीन करण से–करना कराना अनुमोदना से और तीन योग से अर्थात् मन वचन काया से हिंसा नही करूँगा, नही कराऊँगा और करते हुए दूसरे को भला भी

नही समझूगा।

हे भगवन्! पहले किये हुए उन पापों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ अर्थात् उन पापो से पीछे हटता हूँ, आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ, गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ और अपनी आत्मा को पाप से अलग करता हूँ ॥७॥

अब 'प्राणातिपात विरमण' नामक प्रथम महाव्रत का कथन किया जाता है;—

पढमे भंते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वं भंते! पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणे अइवाइज्जा नेव अन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं॥८॥(१)

हे भगवन्! प्रथम महाव्रत प्राणातिपात—हिंसा की निवृत्ति रूप है। अतः हे भगवन्! मै सब प्रकार की प्राणातिपातरूप जीव-हिंसा का त्याग करता हूँ। जैसे कि सूक्ष्म अथवा बादर—स्थूल शरीर वाले, त्रस अथवा स्थावर प्राणियो के प्राणो का स्वय हनन नही करूँगा, न दूसरों से प्राणियो के प्राणो का

हनन करवाऊँगा, प्राणियो के प्राणों का हनन करनेवाले दूसरों को भला भी नही जानूंगा। जीवन पर्यन्त तीन करण से अर्थात् करना कराना अनुमोदना से, तीन योग से अर्थात् मन वचन काया से नही करूँगा, नही कराऊँगा, करते हुए दूसरो को भला भी नही समझूंगा। हे भगवन्! मैं उस हिंसारूपी पाप से निवृत्त होता हूँ। उस पाप की निन्दा करता हूँ। गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ। अपनी आत्मा को उस पाप से अलग करता हूँ। हे भगवन्! मैं सब प्राणातिपात से निवृत्तिरूप प्रथम महाव्रत में उपस्थित होता हूँ।

अब 'मृषावाद विरमण' नामक दूसरे महाव्रत का कथन किया जाता है;–

अहावरे दुच्चे भंते! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं, सव्वं भंते! मुसावायं पच्चक्खामि, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वइज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायाविज्जा मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। दुच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ॥६॥ (२)

हे भगवन्! इसके बाद दूसरे महाव्रत में मृषावाद

—असत्य से निवृत्ति होती है। अत. हे भगवन् ! मैं सब प्रकार के मृषावाद का त्याग करता हूँ। वह इस प्रकार है—क्रोध से अथवा लोभ से तथा भय से अथवा हँसी से, मैं स्वयं झूठ बोलूंगा नही, दूसरों से झूठ बोलाऊँगा नही, और झूठ बोलने वाले दूसरो को भला भी समझूंगा नही। जीवन पर्यन्त तीन करण तीन योग से झूठ बोलूँ नही, झूठ बोलाऊँ नही और झूठ बोलनेवाले को भला जानू नही। हे भगवन् ! पहले अनेक तरह से बोले हुए झूठ का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ, तथा गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ। मैं अपनी आत्मा को मृषावादरूपी पाप से अलग करता हूँ। हे भगवन् ! मैं मृषावाद विरमणरूप दूसरे महाव्रत मे उपस्थित होता हूँ और आज से सब प्रकार के मृषावाद का त्याग करता हूँ ॥६॥

अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिण्णादाणाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! अदिण्णादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिण्णं गिण्हिज्जा नेवन्नेहिं अदिण्णं गिण्हाविज्जा अदिण्णं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहंतिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिण्णा-दाणाओ वेरमणं ॥१०॥(३)

इसके बाद हे भगवन् ! तीसरे महाव्रत में अदत्तादान (बिना दी हुई चीज को लेने) से निवर्तन होना है। अतः हे भगवन् ! मैं सब प्रकार के अदत्तादान (चोरी) का त्याग करता हूँ। वह इस प्रकार कि ग्राम में, नगर में अथवा जंगल मे, अल्प अथवा बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचेतन अथवा अचेतन आदि किसी भी बिना दिये पदार्थ को मै स्वय ग्रहण नही करूँगा, न दूसरो से ग्रहण करवाऊँगा और बिना दिये हुए पदार्थ का ग्रहण करने वाले दूसरों को भला भी न समझूगा। यावज्जीवन तीन करण तीन योग से अदत्तादान का त्याग करता हूँ। हे भगवन् ! मैं पहले किये हुए अदत्तादानरूप पाप का प्रतिक्रमण करता हूँ। आत्मसाक्षी से उन पापो की निन्दा करता हूँ, और गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ तथा अपनी आत्मा को उन पापो से दूर हटाता हूँ। इस प्रकार हे भगवन् ! मैं अदत्तादान से निवृत्तिरूप तीसरे महाव्रत में उपस्थित होता हूँ, और आज से सब प्रकार के अदत्तादान का त्याग करता हूँ।

अब 'मैथुनविरमण' रूप चौथे महाव्रत का कथन किया जाता है;—

अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुसं

वा तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहंतिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥११॥ (४)

इसके वाद हे भगवन् ! चौथे महाव्रत मे मैथुन से निवृत्ति होती है। अतः मैं सव प्रकार के मैथुन का त्याग करता हूँ। वह इस प्रकार कि दिव्य--देव सम्वन्धी हो अथवा मनुष्य सम्वन्धी हो, या तिर्यञ्च सम्वन्धी हो,उन सव मैथुनो का मैं स्वयं सेवन नही करूँगा, दूसरो से सेवन नही करवाऊँगा और सेवन करने वालो का अनुमोदन भी नही करूँगा। 'हे भगवन् ! मैं यावज्जीवन तीन करण तीन योग से मन वचन और काया के योग से करूँ नही, कराऊँ नही, करते हुए को भल जानूं नही। हे भगवन् ! मैं पहले किये हुए मैथुन सम्बन्धी पाप से अलग होता हूँ। उन पापो की आत्मसाक्षी से निन्दा करत हूँ, गुरुसाक्षी से गर्हा करता हूँ और अपनी आत्मा को उ पापो से दूर करता हूँ। हे भगवन् ! अव मैं सव प्रकार मैथुन से निवृत्तिरूप चौथे महाव्रत मे उपस्थित होता हूँ औ आज से सव प्रकार के मैथुन का त्याग करता हूँ ॥११॥४॥

अव 'परिग्रह विरमणरूप पाँचवे महाव्रत का कथ

किया जाता है;—

अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा परिग्गहं परिगिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ॥१२॥ (५)

इसके बाद हे भगवन् ! पाँचवें महाव्रत मे परिग्रह से निवर्त्तन होना है। अतः मैं सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करता हूँ। वह इस प्रकार है कि अल्प अथवा बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचेतन अथवा अचेतन परिग्रह को मैं स्वय ग्रहण नही करूँगा, न दूसरो से ग्रहण करवाऊँगा और परिग्रह को ग्रहण करते हुए दूसरों को भला भी न समझूंगा। जीवन पर्यन्त तीन करण तीन योग से अर्थात् मन वचन और काया के योग से करूँ नही, कराऊँ नही, करते हुए को भला जानू नही। हे भगवन् ! मैं पहले किये हुए परिग्रह सम्बन्धी पाप का प्रतिक्रमण करता हूँ। आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ। गुरु साक्षी से

गर्हा करता हूँ और अपनी आत्मा को उस पाप से अलग करता हूँ। हे भगवन्! अब मै सब प्रकार के परिग्रह से निवृत्ति रूप पांचवें महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ और आज से सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करता हूँ ॥५॥

अब 'रात्रिभोजन विरमण' रूप छठे व्रत का कथन किया जाता है—

अहावरे छट्ठे भंते! वए राइभोयणाओ वेरमणं। सव्वं भंते! राइभोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा नेव सयं राइं भुंजिज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। छट्ठे भंते! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं। इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए, उवसंपज्जित्ता णं विहरामि ॥१३॥ (६)

इसके बाद हे भगवन्! छठे व्रत मे रात्रिभोजन का त्याग होता है। अत. भगवन्! मैं सब प्रकार के रात्रिभोजन का त्याग करता हूँ। जैसे कि अशन अर्थात् खाये जाने वाले पदार्थ अन्न आदि, पान—पीने के योग्य पानी, खादिम—खजूर

आदि मेवा, स्वादिम--मुंह साफ करने के लिए खाये जाने वाले लौंग, सुपारी, पान आदि, इनमे से किसी को भी रात्रि में नहीं खाऊँगा, न दूसरों को रात्रि मे खिलाऊँगा, रात्रि मे भोजन करने वाले दूसरो को भला भी नहीं समझूगा अर्थात् रात्रि भोजन का अनुमोदन भी नही करूँगा। जीवन पर्यन्त मन वचन काया के तीन योग से और तीन करण से करूँ नही, कराऊँ नही, करते हुए दूसरों को भला भी जानू नहीं। इस प्रकार तीन करण तीन योग से रात्रिभोजन का त्याग करता हूँ और तत्सम्बन्धी पूर्वकृत पाप का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, और पूर्वकृत पाप से अपनी आत्मा को पृथक् करता हूँ। भगवन्! मैं छठे व्रत मे उपस्थित होता हूँ। इसलिए अब सब प्रकार के रात्रिभोजन का त्याग करता हूँ।

इस प्रकार छठे रात्रिभोजन विरमण सहित इन पाच महाव्रतों को आत्महित के लिए अंगीकार कर संयम मार्ग में विचरण करता हूँ।

छह काय जीवों की रक्षा के विना चारित्र धर्म का पालन नही हो सकता। इसलिए छह काय जीवों की रक्षा के विषय मे कहा जाता है;-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहय-पच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा पुढवि वा भित्ति वा सिलं वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससर-

क्खं वा वत्थं हत्थेण वा पाएण वा कट्ठेण वा किलिचेण वा अंगुलियाए वा सिलागाए वा सिलागहत्थेण वा न आलिहिज्जा न विलिहिज्जा न घट्टिज्जा न भिंदिज्जा, अन्नं न आलिहाविज्जा न विलिहाविज्जा न घट्टाविज्जा न भिंदाविज्जा, अन्नं आलिहंतं वा विलिहंतं वा, घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥१४॥(१)

पृथ्वीकाय की यतना—संयत—सतरह प्रकार के संयम में रत रहने वाला, विरत—पापकर्मों से निवृत्त तथा बारह प्रकार के तप मे रत रहने वाला, कर्मों की स्थिति को प्रतिहत अर्थात् मन्द करने वाला तथा कर्मबन्ध के कारणो को रोकने वाला साधु अथवा साध्वी, दिन में या रात्रि मे, अकेला या सभा मे रहा हुआ, सोया हुआ या जागता हुआ वह ऐसा कोई कार्य नही करे जिससे पृथ्वीकाय के जीवो की हिंसा हो, जैसे कि भूमि को या भीत को, शिला को या पत्थर को, सचित्त धूल लगे हुए शरीर को तथा सचित्त धूल लगे हुए वस्त्र को, हाथों से या पैरों से, काष्ठ से या लकड़ी के टुकड़े से, अंगुलि से या लोह आदि की शलाका से अथवा शलाका समूह से, पूर्वोक्त

सचित्त पृथ्वी पर रेखा न खीचे, विशेष रूप से अनेक बार रेखा न खीचे, उनका परस्पर एक दूसरे से संघर्ष नही करे अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर न डाले, भेदन न करे, इसी प्रकार सचित्त पृथ्वी पर दूसरो से रेखा न खिचवावे, परस्पर सघर्ष न करावे अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर न गिरवावे, भेदन न करावे, रेखा खीचते हुए, विशेषरूप से बारबार रेखा खीचते हुए, परस्पर संघर्ष करते हुए अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखते हुए, दूसरे को भला भी जाने नही अर्थात अनुमोदन करे नही।

उपरोक्त बात को स्वीकार करता हुआ शिष्य कहता है कि हे भगवन् ! मैं जीवन पर्यन्त उपरोक्त रूप से पृथ्वीकाय की अयतना तीन करण तीन योग से अर्थात् मन वचन काया से करूँगा नही, कराऊँगा नही और करते हुए दूसरे को भला भी समझूगा नही।

हे भगवन्। मैं पहले किये हुए उस पाप का प्रतिक्रमण करता हूँ। आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ। गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ और अपनी आत्मा को उस पूर्वकृत पाप से अलग करता हूँ ॥१४॥१॥

अब अप्काय की यतना के विषय में कहा जाता है—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहय-पच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से उदगं वा

ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरितणुगं वा सुद्धोदगं वा उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं न आमुसिज्जा न संफुसिज्जा न आवीलिज्जा न पवीलिज्जा न अक्खोडिज्जा न पक्खोडिज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा, अन्नं न आमुसाविज्जा न संफुसाविज्जा न आवीलाविज्जा न पवीलाविज्जा न अक्खोडाविज्जा न पक्खोडाविज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा, अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पवीलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥१५॥ (२)

सतरह प्रकार के संयम मे और बारह प्रकार के तप में रत रहने वाला, कर्मों की स्थिति को मन्द करने वाला एवं कर्म बन्ध के कारणो को रोकने वाला साधु अथवा साध्वी, दिन मे या रात्रि मे, अकेला या सभा मे रहा हुआ, सोया हुआ या जागता हुआ वह ऐसा कोई कार्य नही करे जिससे अप्काय की अयतना, जैसे कि—कुए आदि का पानी, ओस—रात मे गिरने वाला सूक्ष्म पानी, हिम—गाढ़ा जमा हुआ पानी अर्थात् बर्फ,

महिका-कुहासा अर्थात् धूअर, करक-ओले का पानी, हरतनु-तृण के अग्रभाग पर बिन्दुरूप से जमा हुआ पानी, शुद्धोदक अर्थात् वर्षा का पानी, पानी से भीगा हुआ शरीर एवं पानी से भीगा हुआ वस्त्र तथा पानी से कुछ कुछ भीगा हुआ शरीर एवं पानी से कुछ कुछ भीगा हुआ वस्त्र, इनमे से किसी को एक बार जरा भी स्पर्श न करे, बारबार अविक स्पर्श न करे, दबावे नही अर्थात् निचोडे नही, बारबार दबावे नहीं अर्थात् निचोड़े नही एक बार झटके नही, बारबार झटके नही, एक वार धूप मे सुखावे नही, बारबार धूप मे सुखावे नही, दूसरे से जरा भी स्पर्श करावे नही, बार बार स्पर्श करावे नही, निचोड़-वावे नही, बारबार निचोड़वावे नहीं, एक बार झटकावे नही बारबार झटकावे नही, एक बार धूप में सुखवावे नही. बारबार धूप मे सुखवावे नही, जरा भी स्पर्श करने वाले, बारबार स्पर्श करने वाले, निचोड़ने वाले, बारबार निचोडने वाले, झटकाने वाले, बारबार झटकानें वाले, धूप में सुखाने वाले, बारबार धूप मे सुखानेवाले ऐसे दूसरे को भला समझे नही।

शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि हे भगवन्! उपरोक्त पानी के जीवों की विराधना मैं जीवनपर्यन्त मन वचन काया के तीन योग से और तीन करण से करूँ नही, कराऊँ नही और करते हुए दूसरे को भला भी जानूं नही।

हे भगवन्! पहले किये हुए अप्काय सम्वन्धी विराधना के पाप का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षी से निन्दा

करता हूँ, गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ और अपनी आत्मा को उस पाप से अलग करता हूँ ॥२॥

अब अग्निकाय की यतना के विषय मे कहा जाता है,—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहय-पच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परि-सागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से अगणिं वा इंगालं वा मुम्मुरं वा अच्चिं वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा न उंजिज्जा न घट्टिज्जा न भिंदिज्जा न उज्जालिज्जा न पज्जालिज्जा न निव्वाविज्जा, अन्नं न उंजाविज्जा न घट्टाविज्जा न भिंदाविज्जा न उज्जा-लाविज्जा न पज्जालाविज्जा न निव्वाविज्जा, अन्नं उंज्जंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा उज्जालंतं वा पज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसि-रामि ॥१६॥ (३)

सयत—सतरह प्रकार के संयम मे रत, विरत—पाप कर्मों से निवृत्त तथा बारह प्रकार के तप में रत रहने वाला कर्मों की स्थिति को मन्द करने वाला तथा कर्मबन्ध के कारणों को रोकने वाला साधु अथवा साध्वी, दिन मे या रात्रि में अकेला

या सभा में रहा हुआ, सोया हुआ या जागता हुआ, वह ऐसा कोई कार्य न करे जिससे अग्निकाय की विराधना हो, जैसे कि–अग्नि, अगारा, मुर्मुर–भोभर, अर्चि–दीप की शिखा की अग्नि, अग्नि के साथ मिली हुई ज्वाला, अलात–तृण के अग्रभाग मे जलने वाली अग्नि, शुद्ध अग्नि यानी काष्ठादि रहित शुद्ध अग्नि, उल्का–बिजली, इन उपरोक्त भेदो वाली अग्नि को ईंधन डाल कर बढावे नही, संघट्टा करे नही, छिन्नभिन्न करे नही, जरा भी जलावे नही, प्रज्वलित करे नही, अर्थात् हवा आदि से उत्तेजित करे नही, बुझावे नही, दूसरे से इन्धन डलवा कर बढवावे नही, सघट्टा करवावे नही, छिन्न भिन्न करवावे नही, जलवावे नही, प्रज्वलित करवावे नही, बुझवावे नही, तथा इन्धन डाल कर बढ़ाने वाले, संघट्टा करने वाले, छिन्न भिन्न करने वाले, जलाने वाले, प्रज्वलित करने वाले दूसरे को भला भी जाने नही।

शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि हे भगवन् ! उपरोक्त अग्निकाय के जीवों की विराधना मैं जीवन पर्यन्त मन वचन काया के तीन योग से और तीन करण से करूँ नही, कराऊँ नही, करते हुए को भला भी जानू नही।

हे भगवन् ! पहले किये हुए अग्निकाय सम्बन्धी विराधना के पाप का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ, गुरुसाक्षी से गर्हा करता हूँ और अपनी आत्मा को उस पाप से अलग करता हूँ ॥३॥

अब वायुकाय की यतना के विषय में कहा जाता है;–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहय पच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से सिएण वा विहुयणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा पत्तभंगेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकन्नेण वा हत्थेण वा मुहेण वा अप्पणो वा कायं बाहिरं वावि पुग्गलं न फुमिज्जा न वीएज्जा अन्नं न फुमाविज्जा न वीआविज्जा अन्नं फुमंतं वा वीअंतं वा न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥१७॥

संयत विरत,पाप कर्मों की स्थिति को मन्द करनेवाला तथा कर्म-बन्ध के कारणो को रोकने वाला साधु अथवा साध्वी, दिन मे या रात्रि मे, अकेला या सभा मे रहा हुआ, सोया हुआ या जागता हुआ, वह ऐसा कोई कार्य नही करे जिससे वायु-काय की विराधना हो, जैसे कि—चामर से, पखे से, ताड़वृक्ष के पंखे से, पत्तो से या पत्तो के टुकड़ो से, शाखा से या शाखा के टुकडे से, मोर के पंखे से या मोर पिच्छी से, वस्त्र से या वस्त्र के एक भाग से, हाथ से या मुख से, अपने शरीर को

अथवा बाहरी किसी भी पदार्थ को फूंक न मारे तथा हवा न करे, दूसरे से फूंक न लगवावे, पखे आदि से हवा न करवावे तथा फूंक देने वाले और हवा करने वाले को भला भी न समझे।

शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि हे भगवन् ! मैं जीवन पर्यन्त उपरोक्त रूप से वायुकाय की विराधना तीन करण तीन योग से अर्थात् मन वचन और काया से करूँगा नही, कराऊँगा नही और करते हुए दूसरे को भला भी समझूँगा नही।

हे भगवन् ! मैं पहले किये हुए वायुकाय सम्बन्धी विराधना के पाप का प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ, गुरुसाक्षी से गर्हा करता हूं और अपनी आत्मा को उस पाप से अलग करता हूं ॥४॥

अब वनस्पतिकाय की यतना के विषय मे कहा जाता है—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहय-पच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से बीएसु वा बीयपइट्ठेसु वा रूढेसु वा रूढपइट्ठसु वा जाएसु वा जायपइट्ठेसु वा हरिएसु वा हरियपइट्ठेसु वा छिन्नेसु वा छिन्नपइट्ठेसु वा सचित्तेसु वा सचित्त कोलपडिनिस्सिएसु वा न गच्छेज्जा न चिट्ठज्जा न निसीइज्जा न तुअट्टिज्जा अन्नं न गच्छाविज्जा न चिट्ठाविज्जा न निसीआविज्जा न तुअट्टाविज्जा अन्नं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसीअंतं

वा तुअट्टंतं वा न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥१८॥ (५)

संयत, विरत, कर्मों की स्थिति को मन्द करने वाला तथा कर्म-बन्ध के कारणो को रोकने वाला साधु अथवा साध्वी दिन मे या रात्रि मे, अकेला या सभा मे रहा हुआ, सोया हुआ या जागता हुआ, वह ऐसा कोई कार्य न करे जिससे वनस्पति-काय के जीवो की विराधना हो, जैसे कि बीजो पर या बीजो पर रखे हुए आसनादि पर, अकुरो पर या अकुरो पर रखे हुए आसनादि पर, पत्रादि से युक्त पौधो पर या पत्रादि से युक्त पौधों पर रखे हुए आसनादि पर, हरी दूब आदि पर या हरी दूब पर रखे हुए आसनादि पर, वृक्ष की कटी हुई हरी शाखाओं पर या हरी शाखाओ पर रखे हुए आसनादि पर, ऐसी वनस्पति जिस पर अण्डे आदि हो उस वनस्पति पर घुन लगे हुए काष्ठ पर न चले, न खडा होवे, न बैठे, न सोवे, दूसरे को न चलावे, न खडा करे, न बिठावे, न सुलावे, चलते हुए खड़े हुए, बैठते हुए, सोते हुए दूसरे को भला भी न जाने ।

उपरोक्त बात को स्वीकार करते हुए शिष्य कहता है कि हे भगवन् ! मैं जीवन पर्यन्त वनस्पति काय की अयतना तीन करण तीन योग से अर्थात् मन वचन काया से करूँगा नही, कराऊँगा नही और करते हुए दूसरे को भला भी सम-

भूँगा नहीं ।

हे भगवन् ! मैं पहले किये हुए उस पाप का प्रतिक्रमण करता हूं, आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ, गुरुसाक्षी से गर्हा करता हूँ और अपनी आत्मा को उस पूर्वकृत पाप से अलग करता हूँ ॥५॥

अब त्रसकाय की यतना के विषय में कहा जाता है—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से कीडं वा पयंगं वा कुंथुं वा पिवीलियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा उरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंसि वा कंबलंसि वा पायपुच्छणंसि वा रयहरणंसि वा गोच्छगंसि वा उडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सेज्जंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय एगंतमवणिज्जा नो णं संघायमावज्जेज्जा ॥१९॥(६)

संयत—सतरह प्रकार के संयम में रत रहने वाला, विरत—पापकर्मों से निवृत्त तथा बारह प्रकार के तप में रत रहने वाला, कर्मों की स्थिति को प्रतिहत अर्थात् मन्द करने वाला तथा कर्मबन्ध के कारणों को रोकने वाला साधु अथवा

साध्वी दिन में या रात्रि मे अकेला या सभा में रहा हुआ, सोया हुआ या जागता हुआ वह ऐसा कोई कार्य नही करे जिससे त्रस काय के जीवों की विराधना हो, जैसे कि–कीडा, मकोड़ा, पतंग, कुंथु–एक प्रकार का सूक्ष्म जीव तथा पिपीलिका–चींटी आदि जीवो को हाथों पर या पैरो पर, भुजाओं पर, जंघाओ पर, पेट पर, मस्तक पर, वस्त्र पर, पात्र पर, कम्वल पर, पादप्रोछन–पैर पोंछने के उपकरण विशेष पर, रजोहरण –ओघे पर, गोच्छग अर्थात् पूजणी पर या पात्रों को पोंछने वाले वस्त्र पर, उडक यानी स्थण्डिल पात्र पर, कारणिक रूप से रखी हुई लाठी या डंडे पर, पीठ पर, यानी छोटे पाट बाजोठ आदि पर, फलक यानी बड़े पाटे पर, शय्या पर, सथारे पर तथा इसी प्रकार के अन्य उपकरण जैसे–मुखवस्त्रिका, पुस्तक आदि पर, उपरोक्त कीडा मकोड़ा आदि जीव हो, तो उनको विधिपूर्वक यतना से भली प्रकार देख देख कर तथा रजोहरण से पूज पूज कर एकान्त स्थान मे रख दे, किन्तु उन जीवों को पीड़ा पहुँचे इस तरह से इकट्ठा करके न रखे ॥६॥

अजयं चरमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥१॥
अजयं चिट्ठमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२॥
अजयं आसमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥३॥

अजयं सयमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥४॥
अजयं भुंजमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥५॥
अजयं भासमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥६॥

अयतना अर्थात् असावधानी पूर्वक चलता हुआ, अयतना पूर्वक खड़ा रहता हुआ, अयतना पूर्वक बैठता हुआ, अयतना पूर्वक सोता हुआ, अयतना पूर्वक भोजन करता हुआ और अयतना पूर्वक बोलता हुआ व्यक्ति, त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा करता है, जिससे पापकर्म का बन्ध होता है। वह पापकर्म उस प्राणी के लिए कटुक फलदायी होता है अर्थात् परिणाम मे दुखदायी होता है।

इन छह गाथाओ मे अयतना पूर्वक चलना, खडा रहना, बैठना, सोना, खाना और बोलना आदि का कडुआ फल बतलाया गया है, जो स्वयं उसी आत्मा को भोगना पडता है ॥१-६॥

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए ।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥७॥

अब शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! जब चलना, ठहरना, बैठना, सोना, खाना और बोलना आदि सब कार्यों मे हिंसा होती है, तो फिर कैसे चले ? कैसे ठहरे ? कैसे बैठे ?

कैसे सोवे ? कैसे खावे ? और कैसे बोले ? जिससे पाप-कर्म का बन्ध नही होता है ॥७॥

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥८॥

अब गुरु महाराज उत्तर देते हैं कि यतना पूर्वक ईर्या-समिति के साथ चले, हाथ पैरो को इधर उधर नही पटकता हुआ यतना पूर्वक ठहरे, यतना पूर्वक बैठे, यतना पूर्वक सोवे, यतना पूर्वक खाता हुआ तथा भाषा समिति के साथ यतना पूर्वक बोलता हुआ व्यक्ति, पाप कर्म को नही बांधता है ।८।

सव्वभूयप्पभूयस्स, संमं भूयाइं पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ ॥९॥

जो जीव, सब प्राणियों को अपने समान समझता है, तथा हिंसा आदि आस्रवो को रोकने से निरास्रवी बना हुआ है और दान्त अर्थात् इन्द्रियों को दमन करने वाला है तथा संसार के समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझता है, उसको पापकर्म का बन्ध नही होता है ॥९॥

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेयपावगं ॥१०॥

यदि जीवो की दया पालने से ही साधुता की सिद्धि होती है, तो फिर ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? नवदीक्षित

शिष्यो के मन मे ऐसी शंका न होवे, इसके लिए जीव दया रूप क्रिया में ज्ञान की भी आवश्यकता है, इस बात को बताते हुए, गुरु महाराज फरमाते हैं कि पहले ज्ञान है, फिर दया है। इस प्रकार सब साधु आचरण करते हैं। सम्यग् ज्ञान से रहित अज्ञानी पुरुष क्या करेगा और कैसे पुण्य पाप को समझेगा।

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ॥११॥

अब ज्ञान प्राप्ति का उपाय बतलाया जाता है—शास्त्र को सुन कर ही कल्याण रूप दया को जानता है और सुन कर ही असयम रूप पाप को भी जानता है। इस प्रकार सयम और असयम दोनों के स्वरूप को सुन कर जाने और जान कर जो श्रेयस्कर—हितकर हो उसको ग्रहण करे ॥११॥

जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ॥१२॥

जो जीव के स्वरूप को नही जानता और अजीव के स्वरूप को भी नही जानता। इस प्रकार जीव अजीव के स्वरूप को नही जानने वाला वह साधक, सयम को कैसे जानेगा? अर्थात् नहीं जान सकता है ॥१२॥

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥१३॥

जो जीव के स्वरूप को भी जानता है और अजीव के

स्वरूप को भी जानता है। इस प्रकार जीव और अजीव दोनों के स्वरूप को जानने वाला वह साधक निश्चय ही सयम के स्वरूप को जान सकेगा ॥१३॥

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥१४॥

जब आत्मा, जीव और अजीव इन दोनो के स्वरूप को जान लेता है, तब सब जीवो की बहुत भेदो वाली नरक तिर्यञ्च आदि ननाविध गतियो को भी जान लेता है ॥१४

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ॥१५॥

जब आत्मा, सब जीवो की बहुत भेदो वाली नर तिर्यञ्च आदि नानाविध गतियों को जान लेता है, तब पु और पाप को तथा बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है ।१

जया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ।
तया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥१६॥

जब पुण्य और पाप को तथा बन्ध और मोक्ष को जा लेता है, तब जो देव सम्बन्धी और मनुष्य सम्बन्धी काम भो हैं उनको दु.ख रूप होने से असार जान कर छोड़ देता है।१६

जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं, सब्भितरबाहिरं ॥१७॥

जब देव सम्बन्धी और मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों को दु:ख रूप होने से असार समझ कर छोड़ देता है, तब राग द्वेष और कषाय रूप आभ्यन्तर संयोग और मात पिता तथा धन धान्यादि संपत्ति रूप बाह्य सयोग को छोड़ देता है ॥१७॥

जया चयइ संजोगं, सब्भितर-बाहिरं ।
तया मुण्डे भवित्ता णं, पव्वइए अणगारियं ॥१८॥

जब आभ्यन्तर और बाह्य संयोग को छोड़ देता है, तब द्रव्य और भाव से मुण्डित होकर अनगारवृत्ति अर्थात् साधुवृत्ति को धारण करता है ॥१८॥

जया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥१९॥

जब द्रव्य और भाव से मुण्डित होकर अनगार वृत्ति को धारण करता है, तब उत्कृष्ट और प्रधान सर्वश्रेष्ठ सवर धर्म—चारित्र धर्म को स्पर्श करता है अर्थात् प्राप्त करता है ॥

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ॥२०॥

जब उत्कृष्ट और प्रधान संवर धर्म को प्राप्त करता है, तब मिथ्यात्व परिणाम द्वारा आत्मा पर लगी हुई कर्म रूपी रज को झाड़ देता है अर्थात् दूर कर देता है ॥२०॥

जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥२१॥

जब मिथ्यात्व परिणाम द्वारा आत्मा पर लगी हुई कर्म रूपी रज को झाड देता है, तब सब पदार्थों को जानने वाला केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है ।२१।

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥२२॥

जब सब पदार्थों को जानने वाले केवलज्ञान केवल-दर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब राग द्वेष का विजेता वीतराग केवलज्ञानी होकर लोक और अलोक के स्वरूप को जान लेता है ॥२२॥

जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरूंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥२३॥

जब राग द्वेष का विजेता वीतराग केवलज्ञानी होकर लोक और अलोक के स्वरूप को जान लेता है, तब मन वचन काया के योगो का निरोध करके शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेता है ॥२३॥

जया जोगे निरूंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥२४॥

जब मन वचन काया के योगो का निरोध करके शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है, तब समस्त कर्मों का क्षय करके आत्मा, कर्म रूपी रज से रहित होकर सिद्धगति को प्राप्त हो जाता है ॥२४॥

जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोग मत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥२५॥

जब समस्त कर्मों का-क्षय करके आत्मा कर्म रूपी रज से रहित होकर सिद्धगति को चला जाता है, तब आत्मा लोक के अग्रभाग पर स्थित शाश्वत-सिद्ध हो जाता है ॥२५॥

इस प्रकार का धर्म का फल किस जीव के लिए दुर्लभ है सो बताया जाता है।

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणा पहोयस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥२६॥

सुख मे आसक्त रहने वाले—सुख के लिए व्याकुल रहने वाले, अत्यन्त सोने वाले, शरीर की विभूषा के लिए हाथ पैर आदि धोने वाले साधु को सुगति मिलना दुर्लभ है ॥२६॥

अब सहज रूप से सुगति किसको प्राप्त होती है,उसका कथन किया जाता है।

तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥२७॥

तप रूपी गुण से प्रधान, सरल बुद्धि वाले, क्षमा और संयम मे तल्लीन, परीषहो को जीतने वाले साधु को सुगति—मोक्ष मिलना सुलभ है ।

तप संयम मे अनुरक्त, सरल प्रकृति वाले तथा बाईस परीषहों को समभावपूर्वक सहन करने वाले साधक के लिए

सुगति प्राप्त होना सरल है ॥२७॥

पच्छावि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो संजमो य, खंती य बंभचेरं च ॥२८॥

जिनको तप और सयम तथा क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है, ऐसे साधक यदि पिछली अवस्था में भी अर्थात् वृद्धावस्था में भी चढते परिणामो से सयम स्वीकार करते हैं, तो वे शीघ्र ही स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं ॥२८॥

इच्चेयं छज्जीवणियं, सम्मदिट्ठी सया जए ।
दुल्लहं लहित्तु सामण्णं,कम्मुणा न विराहिज्जासि । त्ति बेमि

सदा यतना पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला सम्यग्दृष्टि पुरुष, दुर्लभ साधुपने को प्राप्त करके पूर्वोक्त स्वरूप वाले छह जीवनिकाय की मन वचन काया से विराधना नही करे ॥२९॥

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि है आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना है, वैसा ही मैं तुम्हे कहता हूँ ॥

॥ छज्जीवणिया नामक चौथा अध्ययन समाप्त ॥

'पिण्डैषणा' नामक पाँचवां अध्ययन

पहला उद्देशक

इस अध्ययन में मुनि के लिए भिक्षा की विधि बतलाई जाती है।

संपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥१॥

भिक्षा-गोचरी का समय होने पर साधु, चित्त की व्याकुलता एवं उद्वेग रहित होकर, आहारादि मे मूर्च्छित (लुब्ध) न होता हुआ, इस आगे कही जाने वाली विधि से आहार पानी की गवेषणा-खोज करे।

अब गोचरी आदि में जाते हुए साधु के लिए चलने की विधि बतलाई जाती है।

से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥२॥

गाँव मे या नगर में गोचरी के लिए गया हुआ साधु, उद्वेग रहित होकर शांत चित्त से ईर्यासमिति पूर्वक मन्द गति से चले ॥२॥

अब आगे चलने की ही विशेष विधि बतलाई जाती है।

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे ।
वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे य दगमट्टियं ॥३॥

युगमात्र अर्थात् चार हाथ प्रमाण पृथ्वी को सामने देखता हुआ मुनि, बीज और हरी वनस्पति तथा द्वीन्द्रियादिक प्राणी और सचित्त जल और सचित्त मिट्टी को वर्जता हुआ अर्थात् इन सचित्तपदार्थों को बचाता हुआ चले ॥३॥

ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए ।
संकमेण न गच्छिज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥

यदि दूसरा अच्छा मार्ग हो, तो साधु जिस मार्ग में खड्डे होने से गिर जाने की शंका हो, जो मार्ग ऊबड खाबड़ हो–विकट हो, जो मार्ग काटे हुए धान्य के डठलों से युक्त हो और जो मार्ग कीचड़ युक्त हो, ऐसे मार्ग को छोड देवे तथा कीचड़ आदि के कारण उल्लंघने के लिए जिस मार्ग मे ईंट काष्ठ आदि रखे हुए हो और वे हिलते हों, तो ऐसे मार्ग से भी मुनि न जावे ॥४॥

पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए ।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥५॥

उपरोक्त मार्ग मे जाने से हानि बतलाते हैं–उस मार्ग से जाते हुए साधु का यदि पैर फिसल जाय अथवा खड्डे आदि में गिर जाय, तो त्रस जीव–बेइन्द्रियादि और स्थावर–पृथ्व्यादि प्राणियो की हिंसा होती है ।

तम्हा तेण न गच्छिज्जा, संजए सुसमाहिए ।
सइ अण्णेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥६॥

इसलिए सुसमाधिवन्त साधु, यदि कोई दूसरा अच्छा मार्ग हो, तो उस विषम मार्ग से न जावे। यदि कदाचित् दूसरा अच्छा मार्ग न हो, तो उसी मार्ग से मुनि यतना पूर्वक जावे ॥६॥

इंगालं छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं ।
ससरक्खेहिं पाएहिं, संजओ तं न इक्कमे ॥७॥

साधु, सचित्त रज से भरे हुए पैरो से कोयलो के ढेर को, राख के ढेर को, तुस अर्थात् भूसे के ढेर को और गोबर के ढेर को न उल्लघे, क्योकि इससे पृथ्वीकाय की विराधना होती है ॥७॥

न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए वा पडंतिए ।
महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥८॥

अब अप्कायादि की यतना के विषय में कहते हैं—वर्षा बरसती हो अथवा धूअर—कुहरा गिरता हो, महावायु—आंधी चलती हो, पतगिया आदि अनेक प्रकार के जीव इधर उधर पड़ रहे हो, अथवा ईति रूप में जीवों का अति समूह हो, ऐसे समय मे साधु, गोचरी आदि के लिए वाहर न जावे ।

न चरेज्ज वेससामंते, बंभचेरवसाणुए ।
बंभयारिस्स दंतस्स, हुज्जा तत्थ विसुत्तिया ॥९॥

ब्रह्मचर्य की रक्षा चाहने वाले साधु को वेश्याओ के मोहल्ले मे नही जाना चाहिए, क्योकि वहां जाने से, इन्द्रियो का दमन करने वाले ब्रह्मचारी का चित्त चंचल हो जाने की संभावना है ॥६॥

अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं ।
हुज्ज वयाणं पीला, सामण्णम्मि य संसओ ॥१०॥

वेश्याओ के मोहल्ले मे अथवा इसी प्रकार के दूसरे अयोग्य स्थानों मे जाने वाले साधु के, बारबार उस स्थान का संसर्ग रहने से, उसके महाव्रतो की विराधना होती है अर्थात् महाव्रत दूषित होने की आशका रहती है, और इतना ही नही, उसके चारित्र में लोगों को सन्देह होता है ।१०।

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वज्जए वेससामंतं, मुणी एगंतमस्सिए ॥११॥

दुर्गति को वढाने वाले इन उपरोक्त दोषों को जान कर, एकान्त मोक्ष का अभिलाषी मुनि, वेश्याओ के मोहल्ले को और इसी प्रकार के अयोग्य स्थानो को छोड़ दे अर्थात् उधर न जावे ॥११॥

साणं सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिम्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥१२॥

जहाँ काटने वाला कुत्ता हो, नवप्रसूता—थोड़े काल की ब्याई हुई गाय हो, मदोन्मत्त बैल हो, मदोन्मत्त घोड़ा और

हाथी हो, जहाँ बालक खेल रहे हों, तथा जहाँ शस्त्र आदि से युद्ध हो रहा हो, ऐसे स्थानों को साधु दूर से ही वर्ज दे अर्थात् ऐसे स्थानो में न जावे ॥१२॥

मार्ग मे किस प्रकार चलना चाहिए इस विषय मे कहते है।

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले।
इंदियाइं जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ॥१३॥

साधु, द्रव्य भाव से अधिक ऊंचा अर्थात् द्रव्य से ऊंचा सिर करके ऊपर की तरफ देखता हुआ और भाव से जाति आदि के अभिमान से युक्त होकर नहीं चले। इसी प्रकार अधिक नीचा होकर भी न चले अर्थात् द्रव्य से शरीर को बहुत झुका कर और भाव से दीन बना हुआ नही चले। किन्तु हर्ष और विषाद—व्याकुलता रहित होकर अपने अपने विषय में इन्द्रियो का दमन करता हुआ मुनि चले ॥१३॥

दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥१४॥

गोचरी के लिए साधु, अति शीघ्रता से दड़बड़ दड़बड़ दौडता हुआ न जावे और हंसता हुआ तथा बोलता हुआ भी न जावे, किन्तु हमेशा समभाव से ऊँच नीच कुल में ईर्यासमिति पूर्वक गोचरी जावे।

आलोअं थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि य।
चरंतो न विणिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए ॥१५॥

गोचरी आदि के लिए फिरता हुआ साधु, खिडकी, जाली, झरोखे आदि को, दीवार के छेद को, द्वार को, दीवार की सांध को, अथवा चोरों द्वारा किये हुए भीत के छेद को और परेण्डा अर्थात् जल रखने की जगह को टकटकी लगा कर न देखे, क्योंकि ये सब शका के स्थान हैं, इसलिए इनकी तरफ विशेषरूप से देखना त्याग दे। १५॥

रण्णो गिहवईणं च, रहस्सारक्खियाण य।
संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥१६॥

राजा के, गृहपतियों के अर्थात् सेठों के और नगर की रक्षा करने वाले कोतवाल आदि के गुप्त बातचीत करने के स्थानो को दूर ही से त्याग देवे अर्थात् ऐसे स्थानो मे न जावे। क्योंकि ऐसे स्थान क्लेशकारक है अर्थात् सयम मे असमाधि उत्पन्न करने वाले है ॥१६॥

साधु को भिक्षा के लिए कैसे कुल मे जाना चाहिए और कैसे कुल मे नही जाना चाहिए ? इस बात को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते है;–

पडिकुट्ठं कुळं न पविसे, मामगं परिवज्जए।
अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं ॥१७॥

साधु, शास्त्र-निषिद्ध कुल मे गोचरी के लिए नही जावे तथा जिस घर का स्वामी यह कह दे कि मेरे घर मत आओ, तो ऐसे घर मे साधु नही जावे। तथा लोगो मे निन्दित, प्रतीति रहित

कुल मे नही जावे, किन्तु प्रतीति वाले कुल में गोचरी आदि के लिए जावे ॥१७॥

साणीपावारपिहियं, अप्पणा नावपंगुरे ।
कवाडं नो पणुल्लिज्जा, उग्गहंसि अजाइया ॥१८॥

सन आदि के बने हुए चिक, टाट या वस्त्र के पर्दे से दरवाजा ढका हो, तो उस घर के मालिक की आज्ञा लिए बिना साधु स्वयं उस पर्दे को न हटावे, इसी प्रकार किवाड़ को भी स्वय न खोले । कारण होने पर गृहस्थ की आज्ञा लेकर खोले ।१८॥

गोयरग्गपविट्ठो य, वच्चमुत्तं न धारए ।
ओगासं फासुयं नच्चा, अणुन्नविय वोसिरे ॥१९॥

गोचरी के लिए गया हुआ साधु, मल मूत्र को न रोके अर्थात् मलमूत्र की बाधा उपस्थित होने पर उनके वेग को न रोके, किन्तु प्रासुक जीव रहित जगह को देख कर,उस जगह के मालिक की आज्ञा लेकर वहां मलमूत्र का त्याग करे ।

साधु को कैसे घर में गोचरी आदि के लिए नही जाना चाहिए ? इस बात को शास्त्रकार आगे बतलाते हैं ।

णीयदुवारं तमसं, कुट्ठगं परिवज्जए ।
अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा ॥२०॥

जिस मकान का दरवाजा बहुत नीचा हो ऐसे मकान को तथा प्रकाश रहित कोठे को साधु छोड़ दे अर्थात् ऐसे

मकान में गोचरी आदि के लिए नही जावे, क्योकि यहां आंखों से भली प्रकार दिखाई न देने के कारण बेइन्द्रियादि प्राणियो की प्रतिलेखना नही हो सकती है। अतएव उनकी विराधना होने की संभावना रहती है। इसलिए प्राणियो के रक्षक दयालु मुनि ऐसे मकान मे गोचरी आदि के लिए नही जावे ॥२०॥

जत्थ पुप्फाइं बीयाइं, विप्पइण्णाइं कुट्ठए।
अहुणोवलित्तं उल्लं, दट्ठूणं परिवज्जए ॥२१॥

जिस घर में सचित्त फूल और सचित्त बीज आदि बिखरे हुए हों, तथा जो घर तत्काल ही लीपा पोता गया होने से गीला हो, ऐसे घर को देख कर साधु छोड दे अर्थात् ऐसे घर मे साधु गोचरी आदि के लिए नही जावे ॥२१॥

एलगं दारगं साणं, वच्छगं वावि कोट्ठए।
उल्लंघिया न पविसे, विउहित्ताण व संजए ॥२२॥

जिस घर के दरवाजे पर भेड़, बकरा, बालक, कुत्ता, बछड़ा आदि बैठे हों, या खड़े हो, तो साधु उनको हटाकर अथवा उन्हे उल्लंघन कर उस घर मे गोचरी आदि के लिए नही जावे।

उपरोक्त दोषों से रहित घर मे जाकर साधु किस प्रकार का व्यवहार करे सो शास्त्रकार आगे बताते हैं।

असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरावलोयए।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए, निअट्टिज्ज अयंपिरो ॥२३॥

गोचरी के लिए गया हुआ साधु, किसी भी तरफ आसक्ति पूर्वक न देखे, घर के अन्दर दूर तक लम्बी दृष्टि डालकर भी न देखे, तथा आँखे फाड़ फाड़ कर–टकटकी लगा कर भी न देखे। यदि वहाँ भिक्षा न मिले, तो कुछ भी न बोलता हुआ तथा क्रोध से बड़बडाहट न करता हुआ वहाँ से वापिस लौट आवे ॥२३॥

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कमे ॥२४॥

गोचरी के लिए गया हुआ साधु, अतिभूमि में अर्थात् गृहस्थ की मर्यादित भूमि से आगे नही जावे, किन्तु कुल की मर्यादित भूमि को जान कर जिस कुल का जैसा आचार हो वहाँ तक की परिमित भूमि मे ही जावे, क्योकि परिमित–मर्यादित भूमि से आगे जाने पर दाता क्रोधित हो सकता है ॥२४।

तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागं वियक्खणो।
सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए ॥२५॥

गोचरी के लिए गया हुआ विचक्षण साधु, उस मर्यादित भूमि की प्रतिलेखना करे अर्थात् उस भूमि को अच्छी तरह देखकर खडा रहे। वहां खड़ा हुआ साधु, स्नानघर की तरफ तथा पाखाने की तरफ दृष्टि न डाले ॥२५॥

दगमट्टियआयाणे, बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदियसमाहिए ॥२६॥

सब इन्द्रियों को वश मे रखता हुआ समाधिवान् मुनि, सचित्त जल और सचित्त मिट्टी युक्त जगह को बीजों को और हरी वनस्पति को वर्ज कर यतना पूर्वक खडा रहे ॥२६॥

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, आहरे पाणभोयणं ।
अकप्पियं न गिण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥२७॥

वहा मर्यादित भूमि मे खड़े हुए साधु को दाता, आहार पानी वहरावे अर्थात् देवे और यदि वह आहारादि कल्पनीय हो, तो ग्रहण करे, किन्तु अकल्पनीय आहारादि को ग्रहण नही करे ॥२७॥

आहरंती सिया तत्थ, परिसाडिज्ज भोयणं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥२८॥

आहार पानी देती हुई बाई, यदि कदाचित् आहार पानी को गिराती हुई लावे, तो देती हुई उस बाई को साधु कहे कि इस प्रकार का आहार पानी लेना मुझे नही कल्पता है।

संमद्दमाणी पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य ।
असंजमकरिं नच्चा, तारिसं परिवज्जए ॥२६॥

यदि बेइन्द्रियादि प्राणियों को, बीजो को और हरी वनस्पति आदि को पैरो से कुचलती हुई बाई, आहार पानी देवे, तो इस प्रकार साधु के लिए अयतना करनेवाली जान कर, साधु, उस आहार पानी को छोड़ दे अर्थात् ग्रहण न करे ।२६।

साहट्टु निक्खिवित्ताणं, सचित्तं घट्टियाणि य ।
तहेव समणट्ठाए, उदगं संपणुल्लिया ॥३०॥

ओगाहइत्ता चलइत्ता, आहरे पाण भोयणं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३१॥

इसी प्रकार साधु के लिए सचित्त वस्तु को हटाकर, सचित्त वस्तु पर आहारादि को रख कर और सचित्त के साथ संघट्टा करके तथा सचित्त पानी को हिला कर, रुके हुए पानी को नाली आदि से निकाल कर आहार पानी देवे, तो देती हुई उस बाई से साधु कहे कि इस प्रकार का आहार पानी लेना मुझे नही कल्पता है ॥३०-३१॥

पुरेकम्मेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३२॥

गृहस्थ यदि साधु को भिक्षा देने के लिए सचित्त जल से हाथ को, कुड़छी-चमचा को या अन्य बरतनों को धोकर उस पुर.कर्म युक्त हाथ आदि से भिक्षा दे, तो साधु, दाता से कह दे कि ऐसा आहार पानी लेना मुझे नही कल्पता है ।

एवं उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टियाउसे ।
हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥३३॥

गेरुय वण्णिय सेढिय, सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस कए य ।
उक्किट्ठमसंसट्ठ, संसट्ठे चेव बोद्धव्वे ॥ ३४ ॥

असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं स इच्छिज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे ।३५।

भिक्षा देने वाले का हाथ यदि सचित्त पानी से गीला हो, या हाथ की रेखाओ मे कुछ गीलापन हो तथा दाता का हाथ सचित्त रज-मिट्टी से अथवा सचित्त ऊसर खार से भरा हो या सचित्त हरताल, हिंगलू, मैंनशील, अजन, नमक आदि से भरा हो, गेरू, पीली मिट्टी, सफेद मिट्टी-खडिया, सचित्त फिटकरी, तत्काल पिसा हुआ आटा, अथवा कच्चे कूटे हुए शालि धान्य का पिष्ट कुक्कुस-तत्काल कूटे हुए धान के तुष जिनमें धान के दाने मिले रहने की शका हो, उत्कृष्ट अर्थात् बड़े फल कोहला तरबूज आदि के टूकडे, इन उपरोक्त पदार्थों मे से किसी भी पदार्थ से अथवा इसी प्रकार के अन्य सचित्त पदार्थों से हाथ भरे हुए हों, उनसे यदि भिक्षा दे, तो वह साधु के लिए अकल्पनीय है। जो कुड़छी आदि, शाक आदि से अससृष्ट अर्थात् भरी हुई न हो और उसमें पश्चात्कर्म की संभावना हो, ऐसी कुडछी आदि से यदि दाता भिक्षा दे, तो वह भी साधु के लिए अकल्पनीय है। साधु उस आहार को ग्रहण नही करे।

संसट्ठेण य हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥३६॥

शाक आदि पदार्थों से भरे हुए हाथ से, कुड़छी से, या बरतन से आहारादि देवे और वह आहारादि एषणीय-निर्दोष हो, तो साधु उस आहार को ग्रहण करे॥३६॥

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥३७॥

गृहस्थ के घर दो व्यक्ति भोजन कर रहे हों, उनमें से
दि एक व्यक्ति निमन्त्रण करे अर्थात् आहारादि देना चाहे,
साधु उस आहार की इच्छा नही करे अर्थात् ग्रहण नही करे,
न्तु उस निमन्त्रण न करने वाले दूसरे व्यक्ति की इच्छा को
अर्थात् यह देना दूसरे को इष्ट है या नही, उसके इस
व को आकृति आदि पर से समझे, यदि उसकी इच्छा नही हो,
साधु उस आहार को ग्रहण नही करे ।।३७।

ण्हं तु भुंजमाणाणं, दो वि तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ।।३८।।

यदि गृहस्थ के घर दो व्यक्ति भोजन कर रहे हो और
दोनो निमन्त्रण करें अर्थात् आहार लेने की प्रार्थना करें और
दिया जाने वाला आहार, एषणीय-निर्दोष हो, तो साधु
आहारादि को ग्रहण करे ।।३८।।

गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोयणं ।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ।।३९।।

गर्भवती स्त्री के लिए अनेक प्रकार की मिठाई आदि
ने पीने की वस्तुएँ बनी हों और वह गर्भवती स्त्री उसे खा
हो, तो साधु, उस आहार को ग्रहण नही करे, किन्तु यदि
के खा लेने पर बचा हो, तो साधु उस बचे हुए आहार में
ले सकता है ।।३९।।

सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी ।
उट्ठिआ वा निसिइज्जा, निसण्णा वा पुणुट्ठए ।।४०।।

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४१॥

यदि कदाचित् आसन्नप्रसवा अर्थात् जिसका प्रसव काल समीप है, ऐसी पूर्ण समय वाली गर्भवती स्त्री जो पहले खडी हो, वह साधु को आहारादि देने के लिए बैठे अथवा पहले से बैठी हुई वह साधु को आहारादि देने के लिए खडी हो, तो वा आहार पानी साधु के लिए अकल्पनीय–अग्राह्य होता है। इसलि देने वाली उस बाई से साधु कहे कि इस प्रकार का आहारा मुझे नही कल्पता है ॥४०–४१॥

थणगं पिज्जमाणी, दारगं वा कुमारियं ।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं ॥४२॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४३॥

बालक को अथवा बालिका को स्तन पान कराती ह (चुघाती हुई) बाई, उस बच्चे को नीचे रखे और वह बच्चा र लगे, उस समय यदि वह बाई, साधु को आहार पानी देने ल तो वह आहार पानी साधु के लिए अकल्पनीय होता है। इसलि उस देने वाली बाई से साधु कहे कि इस प्रकार का आह पानी मुझे नही कल्पता है ॥४२–४३॥

जं भवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्पम्मि संकियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४४

जिस आहार पानी के विषय में इस प्रकार की शंका हो कि यह कल्पनीय है या अकल्पनीय ? तो साधु ऐसे शकायुक्त आहार पानी को न लेवे और दाता से कहे कि ऐसा शकित आहार पानी मुझे नही कल्पता है ॥४४॥

दगवारेण पिहियं, नीसाए पीढएण वा ।
लोढेण वा वि लेवेण, सिलेसेण वि केणइ ॥४५॥

तं च उब्भिदिया दिज्जा, समणट्ठाए व दावए ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४६॥

सचित्त जल के घड़े से, पीसने की चक्की या शिला से, चौकी या बाजोट से अथवा पत्थर से अथवा इसी तरह के दूसरे किसी पदार्थ से आहार पानी का बरतन ढका हुआ हो अथवा मिट्टी आदि के लेप से, मोम लाख आदि किसी चिकने पदार्थ से सील या छाबण लगा कर बरतन का मुंह बन्द किया हुआ हो, उसे यदि साधु के लिए ही खोल कर दाता, आप स्वय देवे अथवा दूसरे से दिलवावे, तो दाता से साधु कहे कि इस प्रकार का आहार पानी मुझे नही कल्पता है ॥४५–४६॥

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥४७॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४८॥

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुण्णट्ठा पगडं इमं ।४९।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।५०।।
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा,वणीमट्ठा पगडं इमं ।५१।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।५२।।
असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा,समणट्ठा पगडं इमं ।५३।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।५४।।

जिस आहार, पानी, खादिम–मेवा, स्वादिम–लौग, इलायची, सुपारी आदि के विषय मे साधु, इस प्रकार जान ले अथवा किसी से सुन ले कि उपरोक्त आहारादि दान के लिए, पुण्य के लिए, याचको के लिए अथवा बौद्ध आदि अन्यमताव· लम्बी भिक्षुओ के लिए वनाया हुआ है, तो वह आहारादि साधु के लिए अकल्पनीय है । इसलिए साधु दाता से कहे कि इस प्रकार का आहारादि मुझे नही कल्पता है ।।४७–५४।।

उद्देसियं कीयगडं, पूइकम्मं च आहडं ।
अज्झोयर पामिच्चं, मीसजायं विवज्जए ।।५५।।

जो आहारादि साधु के लिए बनाया हुआ हो, साधु के लिए मोल खरीदा हुआ हो, निर्दोष आहार मे आधाकर्मी आहार का अशमात्र भी मिल गया हो, साधु के लिए जो सामने लाया गया हो, अपने लिए बनाये जाते हुए आहार में साधु के निमित्त से और डाला हुआ हो, साधु के लिए उधार लिया हुआ हो और जो आहार अपने लिए और साधु के लिए एक साथ पकाया हुआ हो, तो इन दूषणों से दूषित आहार को साधु, ग्रहण न करे, क्योकि ऐसा आहारादि साधु के लिए अकल्पनीय होता है ॥५५॥

उग्गमं से अ पुच्छिज्जा, कस्सट्ठा केण वा कडं ।
सुच्चा निस्संकियं सुद्धं, पडिगाहिज्ज संजए ।५६।

आहारादि के विषय में शंका हो जाने पर साधु, दाता से उस आहारादि की उत्पत्ति के विषय मे पूछे कि यह आहार किसके लिए और किसने बनाया है ? दाता के मुख से उसकी उत्पत्ति को सुनकर यदि वह आहारादि शंका रहित–औद्देशिकादि दोषो से रहित हो और शुद्ध–निर्दोष हो, तो साधु, उस आहार को ग्रहण करे, अन्यथा नही ॥५६॥

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ॥५७॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥५८॥

अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारो प्रकार का आहार फूलों से, बीजो से अथवा हरी वनस्पति से मिश्रित हो जाय अर्थात् परस्पर मिल जाय, तो ऐसा आहारादि साधु के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए साधु दाता से कहे कि इस प्रकार का आहार पानी मुझे नही कल्पता है ॥५७-५८॥

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं, उत्तिगपणगेसु वा ।५६।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥६०॥

अशन, पान, खादिम, स्वादिम, चारों प्रकार का आहार सचित्त पानी पर रखा हो, अथवा कीड़ीनगरा और काई-लीलण फूलण पर रखा हो, तो ऐसा आहारादि साधु के लिए अकल्पनीय होता है अर्थात् ग्रहण करने लायक नही होता है। इसलिए साधु, दाता से कहे कि इस प्रकार का आहारादि मुझे नही कल्पता है ॥५६-६०॥

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
तेउम्मि होज्ज निक्खित्तं, तं च संघट्टिया दए।६१।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥६२॥

अशन. पान, खादिम, स्वादिम, यह चार प्रकार का आहार अग्नि के ऊपर रखा हुआ हो अथवा अग्नि के साथ

संघट्टा हो रहा हो, तो ऐसा आहारादि साधु के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए साधु दाता से कहे कि इस प्रकार का आहारादि मुझे नही कल्पता है ॥६१-६२॥

एवं उस्सक्किया ओसक्किया उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया, उवत्तिया ओयारिया दए।६३।

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥६४॥

जिस प्रकार अग्नि के साथ संघट्टा होने वाले आहारादि को साधु नही लेते है, उसी प्रकार ऐसे आहारादि को भी साधु न लेवे, जैसे कि-मुनिराज को भिक्षा दू तब तक चूल्हे की आग बुझ न जाय इसके लिए जलती हुई लकड़ियों को चूल्हे मे आगे सरकाकर, चूल्हे पर रखी हुई चीज जल न जाय इस भय से जलती हुई लकड़ियो को चूल्हे से बाहर खीच कर, बुझती हुई अग्नि को फूंक आदि से उत्तेजित करके अग्नि को अधिक उत्तेजित करके, प्रज्वलित करके, जल जाने के भय से अग्नि को एकदम बुझा कर, अग्नि पर पकते हुए आहार के बरतन मे से गिर जाने के भय से कुछ बाहर निकाल कर, उफनते हुए दूध आदि मे पानी का छिड़का देकर, अग्नि पर रहे हुए आहारादि को दूसरे बरतन में निकाल कर या अग्नि पर रहे हुए बरतन को नीचे उतार कर फिर साधु को आहार पानी देवे, तो ऐसा आहारादि साधु के लिए अकल्पनीय होता

है,क्योकि इसमे अग्नि का संघट्टा होता है। इसलिए साधु, दाता से कहे कि इस प्रकार का आहार पानी मुझे नही कल्पता है।

हुज्ज कट्ठं सिलं वा वि, इट्टालं वावि एगया।
ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं ॥६५॥
न तेण भिक्खू गच्छिज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विंदियसमाहिए ॥६६॥

कभी वर्षा आदि के समय कीचड़ या पानी आदि के संक्रमण के लिए लम्बी लकड़ी या वडी शिला रखी हो अथवा ईंट आदि जमाये हुए हों और वे सब अस्थिर हों,डगमगाते हों, तो साधु, उस पर पैर रख कर न जावे तथा जो मार्ग गहरा ऊँडा होने से प्रकाश रहित हो और जो मार्ग पोला हो, उस मार्ग से भी सब इन्द्रियों को वश मे रखने वाला समाधिवान् साधु, न जावे, क्योकि उस मार्ग से जाने मे सर्वज्ञ प्रभु ने असयम देखा है ॥६५-६६॥

निस्सेणिं फलगं पीढं, उस्सवित्ताणमारुहे।
मंचं कीलं च पासायं, समणट्ठाए व दावए ॥६७॥
दुरूहमाणी पवडिज्जा, हत्थं पायं व लूसए।
पुढवीजीवे वि हिंसिज्जा, जे य तन्निस्सिया जगे।६८।
एयारिसे महादोसे, जाणिऊण महेसिणो।
तम्हा आलोहडं भिक्खं, न पडिगिण्हंति संजया ॥६९॥

यदि दान देने वाली स्त्री, साधु के लिए नि.सरणी-

सीढी, पाटिया, चौकी खाट और कीले को खड़ा करके ऊपर की मजिल पर चढे, तो इस प्रकार कष्ट से चढती हुई वह शायद गिर पडे और उसका हाथ पैर आदि अंग टूट जाय तथा पृथ्वीकाय के जीवो की भी विराधना–हिंसा होगी और उस पृथ्वी की नेश्राय मे रहे हुए त्रस जीवों की भी हिंसा होगी। इसलिए ऐसे पूर्वोक्त महादोषों को जान कर शुद्ध सयम का पालन करने वाले महर्षि लोग, ऊपर के मंजिल से नि.सरणी आदि द्वारा उतार कर लाई हुई भिक्षा को ग्रहण नही करते हैं ॥६७–६९॥

कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं च सन्निरं ।
तुंबागं सिंगबेरं च, आमगं परिवज्जए ॥७०॥

कच्चा जमीकन्द, मूल–जड़ प्रलम्ब अर्थात् फल, ताल आम आदि, काटी हुई भी वथुए आदि पत्तो की सचित्त भाजी, घीया, अदरख आदि सब प्रकार की सचित्त वनस्पति, जिसे अग्नि आदि का शस्त्र न लगा हो, उसे साधु ग्रहण न करे।

तहेव सत्तुचुण्णाइं, कोलचुण्णाइं आवणे ।
सक्कुलिं फाणिअं पूअं, अन्नं वावि तहाविहं ॥७१॥
विक्कायमाणं पसढं, रएण परिफासियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७२॥

जिस प्रकार सचित्त कंद आदि अग्राह्य है, उसी प्रकार बाजार मे दुकान पर बेचने के लिए खुले रूप से रखे हुए सचित्त

रज से युक्त जौ आदि के सत्तू का चूर्ण, बोरो का चूर्ण, तिल-पापड़ी, गीला गुड, मालपूआ तथा इसी प्रकार के और भी पदार्थों को दाता, साधु को देने लगे, तो साधु, उस दाता से कहे कि मुझे इस प्रकार का आहार नहीं कल्पता है ॥७१-७२॥

बहुअट्ठियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं ।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं, उच्छुखंडं व सिंबलिं ।७३।

अप्पे सिया भोयणजाए, बहुउज्झियधम्मियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७४॥

बहुत बीजों वाला फल, जैसे-सीताफल, पुद्गल वृक्ष का फल, अनानास का फल, बहुत काँटो वाला फल, जैसे-पनस कटहल आदि। इस तरह व्याख्यान करने से ये चार पद अलग अलग हैं। कही कही 'बहुअट्ठियं और बहुकटय' इन दो दो पदो को विशेषण रखा है। तब ऐमा अर्थ किया है-बहुत बीजों वाले फल का गिर-गूदा, और बहुत काँटों वाला अनानास आदि का फल, अस्थिक-अगत्थिया वृक्ष का फल, तिंदरूक-टीवरू वृक्ष का फल, बेल का फल, इक्षुखण्ड-गडेरी, सेमल का फल, ये सब उपरोक्त फल जिनमें खाने योग्य अश थोडा हो और फेंकने योग्य अंश अधिक हो, ऐसे पदार्थों को साधु ग्रहण न करे, किन्तु दाता से कहे कि इस प्रकार का आहारादिक लेना मुझे नही कल्पता है।

उपरोक्त सब शब्द वनस्पति वाचक हैं, मास वाचक नहीं ॥७३-७४॥

तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोयणं ।
संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोयं विवज्जए ।।७५।।

जिस प्रकार आहार के विषय मे बतलाया गया है, उसी प्रकार पानी के विषय मे आगे बतलाया जाता है। उच्च अर्थात् अच्छे वर्णादि से युक्त दाख आदि का धोवन और अवच अर्थात् सुन्दर वर्ण से रहित मेथी केर आदि का धोवन, अथवा गुड़ के घड़े का धोवन, आटे की कठौती का धोवन, चावलों का धोवन, ये सब धोवन यदि तुरन्त के धोये हुए हो, तो साधु, उन्हे वर्ज दे अर्थात् ग्रहण न करे ।।७५।।

जं जाणेज्ज चिराधोयं, मईए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, जं च निस्संकियं भवे ।७६।

अपनी बुद्धि से अथवा देखने से या गृहस्थ से पूछ कर अथवा सुन कर जो धोवन बहुत काल का धोया हुआ है, ऐसा जाने और जो शका रहित हो, तो साधु, उसे ग्रहण कर सकता है ।।७६।।

अजीवं परिणयं णच्चा, पडिगाहिज्ज संजए ।
अह संकियं भविज्जा, आसाइत्ताण रोयए ।।७७।।

जल को निर्जीव और शस्त्र परिणत जान कर साधु, उसे ग्रहण करे। यदि वह शंकायुक्त हो अर्थात् इससे प्यास बुझेगी या नही, इस प्रकार की शंका से युक्त हो, तो साधु, उसे चख कर उसका निर्णय करे ।।७७।।

थोवमासायणट्ठाए, हत्थगम्मि दलाहि मे।
मा मे अच्चंबिलं पूयं, नालं तण्हं विणित्तए ॥७८॥

धोवन को चख कर निर्णय करने के लिए साधु दाता से कहे कि चखने के लिए थोड़ा सा धोवन मेरे हाथ में दो, क्योंकि अत्यन्त खट्टा, बिगड़ा हुआ और प्यास को बुझाने में असमर्थ धोवन मेरे लिए उपयोगी नही होगा ॥७८॥

तं च अच्चंबिलं पूयं, नालं तिण्हं विणित्तए।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७९॥

उस अत्यन्त खट्टे, बिगडे हुए और प्यास को बुझाने मे असमर्थ ऐसे धोवन को देने वाली बाई से साधु कहे कि इस प्रकार का धोवन मुझे नही कल्पता है ॥७९॥

तं च होज्ज अकामेणं, विमणेण पडिच्छियं।
तं अप्पणा न पिवे, नो वि अण्णस्स दावए ॥८०॥

यदि कदाचित् बिना इच्छा से अथवा बिना मन से, ध्यान न रहने के कारण उपरोक्त प्रकार का धोवन ग्रहण कर लिया गया हो, तो उस धोवन को न तो आप स्वय पीवे और न दूसरे को पिलावे ॥८०॥

एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया।
जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥८१॥

एकान्त स्थान मे जाकर एकेंद्रिय रहित स्थान को देख

कर एवं पूज कर, उस धोवन को यतना पूर्वक विधि से परठ देवे। परठ कर तीन वार 'वोसिरे वोसिरे' कहे। फिर वापिस आकर इरियावहिया का प्रतिक्रमण करे ॥८१॥

सिया य गोयरग्गगओ, इच्छिज्जा परिभोत्तुअं।
कुट्ठगं भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुयं ॥८२॥
अणुन्नवित्तु मेहावी, पडिच्छन्नम्मि संवुडे।
हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥८३॥

गोचरी के लिए गया हुआ समाचारी का जानकार बुद्धिमान् साधु, यदि कदाचित् ग्लान अवस्था के कारण से अथवा तपस्या आदि विशेष कारण से वही पर आहारादि करना चाहे, तो वहां एकेन्द्रियादि जीवो से रहित मकान आदि की पडिलेहणा करके और उस जगह के स्वामी की आज्ञा माग कर वहां दीवार की आड मे अथवा ऊपर से छाये हुए स्थान मे, पूजनी से हाथ आदि को अच्छी तरह पूंज कर, उपयोग पूर्वक आहारादि करे ॥८२-८३।

तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठियं कंटओ सिया।
तणकट्ठसक्करं वावि, अण्णं वावि तहाविहं ॥८४॥
तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे, आसएण न छड्डुए।
हत्थेण तं गहेऊणं, एगंतमवक्कमे ॥८५॥
एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया।
जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥८६॥

उपरोक्त स्थान मे आहार करते हुए उस साधु के आहार में यदि कदाचित् कोई बीज–गुठली, काटा, तिनका, लकड़ी का टुकडा, छोटा ककर और भी इस प्रकार का कोई पदार्थ आजाय, तो उसे निकाल कर इधर उधर न फेके तथा मुख से भी न थूके, किन्तु हाथ से लेकर एकान्त स्थान मे जावे और एकान्त स्थान में जाकर अचित्त–जीव रहित स्थान को देख कर तथा पूज कर यतना पूर्वक उसे परठ देवे और परठकर वापिस अपने स्थान पर आकर इरियावही का प्रतिक्रमण करे ॥८४–८६॥

सिया य भिक्खू इच्छिज्जा, सिज्जामागम्म भुत्तुअं।
सपिंडपायमागम्म, उंडुअं पडिलेहिया ॥८७॥
विणएण पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥८८॥

यदि साधु, अपने स्थान मे अर्थात् जिस उपाश्रय में ठह हो, उस उपाश्रय मे आकर ही आहार करना चाहे, तो उस भिक्ष सहित पात्र को लेकर वहां आवे और 'निस्सीहि, मत्थएण वंदामि' आदि कहते हुए विनयपूर्वक उस उपाश्रय मे प्रवेश करे, भोज करने के स्थान को अच्छी तरह देखे और फिर गुरु के पा आकर वह मुनि 'इरियावहिया' का पाठ कह कर फिर प्रतिक्रम करे अर्थात् कायोत्सर्ग करे ॥८७–८८॥

आभोइत्ताण नीसेसं, अइयारं जहक्कमं।
गमणागमणे चेव, भत्तपाणे य संजए ॥८९॥

उज्जुप्पण्णो अणुव्विग्गो, अवक्खित्तेण चेयसा ।
आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहियं भवे ॥६०॥

कायोत्सर्ग करते समय मुनि आने जाने मे तथा आहारादि ग्रहण करने मे जो अतिचार लगे हो, उन सब अतिचारो को याद करके तथा आहार पानी जिस क्रम से ग्रहण किया हो, उसे यथाक्रम से उपयोग पूर्वक चिन्तन करके सरल बुद्धि वाला उद्वेग रहित मुनि, एकाग्रचित्त से गुरु के पास आलोचना करे।

न सम्ममालोइयं हुज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं ।
पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिंतए इमं ॥६१॥

जो अतिचार पहले तथा पीछे लगा हो और उसकी अच्छी तरह से क्रम पूर्वक आलोचना न हुई हो, तो उस अतिचार की फिर से आलोचना करे और कायोत्सर्ग मे रहा हुआ साधु, इस आगे की गाथा मे कहे हुए अर्थ का चिन्तन करे ॥६१॥

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया ।
मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥६२॥

कायोत्सर्ग करता हुआ मुनि, इस प्रकार विचार करे कि अहो ! तीर्थंकर भगवान् ने मोक्ष प्राप्ति के साधनभूत साधु के शरीर का निर्वाह करने के लिए, साधुओ के लिए कैसी निर्दोष भिक्षावृत्ति बताई है ? ॥६२॥

णमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं ।
सज्झायं पट्ठवित्ताणं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥६३॥

मुनि 'णमो अरिहताणं' पद का उच्चारण करके कायो-त्सर्ग को पारे तथा 'लोगस्स उज्जोयगरे' इत्यादि से तीर्थंकर भगवान् की स्तुति करके तथा फिर कुछ स्वाध्याय करके, कुछ काल के लिए मुनि विश्राम करे ॥९३।

वीसमंतो इमं चिंते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ।९४।

निर्जरा रूप लाभ का इच्छुक साधु, विश्राम करता हुआ अपने हित के लिए इस प्रकार विचार करे कि यदि कोई साधु मुझ पर अनुग्रह करे अर्थात् मेरे आहार मे से कुछ आहार ग्रहण करे, तो मै इस संसार समुद्र से तारित–तारा हुआ हो जाऊँ ।९४।।

साहवो तो चिअत्तेणं, निमंतिज्ज जहक्कमं।
जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहिं सद्धि तु भुंजए।९५।

इस प्रकार विचार कर वह मुनि, प्रेम पूर्वक सब साधुओ को यथाक्रम से अर्थात् सब से पहले बडे साधु को, तत्पश्चात् छोटे को, इस प्रकार क्रम से निमन्त्रण करे, फिर यदि उनमे से कोई साधु, उस आहार मे से आहार लेना चाहे, तो उन्हे देकर उनके साथ एक जगह आहार करे ॥९५॥

अह कोइ न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एक्कओ।
आलोए भायणे साहू, जयं अप्परिसाडियं ॥९६॥

इस प्रकार निमन्त्रण करने पर यदि, कोई साधु, उस

आहार मे से आहार लेना न चाहे, तो फिर वह साधु, अकेला ही अर्थात् द्रव्य में स्वयं, भाव से राग द्वेष रहित, चौड़े मुख वाले प्रकाशयुक्त पात्र मे, नीचे कण आदि न गिराता हुआ यतना पूर्वक आहार करे ॥९६॥

तित्तगं व कडुअं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा ।
एयलद्धमण्णट्ठपउत्तं, महुघयं व भुंजिज्ज संजए ॥९७॥

दूसरे के लिए बनाया हुआ और शास्त्रोक्त विधि से मिला हुआ वह आहार, यदि तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा, मीठा अथवा नमकीन चाहे जैसा भी हो, किन्तु साधु उस आहार को घी शक्कर की तरह प्रसन्नता पूर्वक खावे ॥९७॥

अरसं विरसं वावि, सूइयं वा असूइयं ।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथुकुम्मासभोयणं ॥९८॥
उप्पण्णं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहुफासुयं ।
मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसवज्जियं ॥९९॥

शास्त्रोक्त विधि से प्राप्त हुआ आहार, चाहे अरस–रस रहित हो अथवा विरस–पुराने चावल एवं पुराने धान की बनी हुई रोटी आदि हो, बघार–छौक दिया हुआ शाक हो अथवा बघार रहित हो, गीला हो अथवा शुष्क–भुने हुए चने आदि हो अथवा बोरकूट का आटा या कुलथी का आहार हो अथवा उड़द के बाकले हो, सरस आहार थोड़ा हो, नीरस आहार बहुत अर्थात् चाहे जैसा आहार हो, साधु, उस आहार की अथवा

दाता की अवहेलना या निन्दा नही करे, किन्तु नि स्पृहभाव से केवल संयम यात्रा का निर्वाह करने के लिये भिक्षा लेने वाला मुनि,दाता द्वारा नि.स्वार्थभाव से दिये हुए उस प्रासुक एवं निर्दोष आहार को संयोजनादि दोषो को टाल कर समभाव पूर्वक भोगवे ।।९८–९९।।

दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी,दो वि गच्छंति सुग्गइं ।१००।त्तिबेमि

प्रत्युपकार की आशा न रख कर नि.स्वार्थ बुद्धि से दान देने वाला दाता, निश्चय ही दुर्लभ है,और इसी तरह निर-पेक्ष और नि स्पृह भाव से शुद्ध भिक्षा लेकर सयम यात्रा का निर्वाह करने वाले भिक्षु भी दुर्लभ है । निःस्वार्थ भाव से दान देने वाला दाता, और निरपेक्ष एव नि स्पृह भाव से दान लेने वाले भिक्षु, दोनो ही सुगति मे जाते हैं ।।१००।।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है कि हे आयुष्यमन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना है, वैसा ही मैं तुम्हे कहता हूँ ।।

।। पाचवे अध्ययन का पहला उद्देशक समाप्त ।।

दूसरा उद्देशक

इस पिण्डैषणा नामक पांचवें अध्ययन के पहले उद्देशे में जो उपयोगी विषय नही कहे गये है, वे इस दूसरे उद्देशे में कहे जाते है–

पडिग्गहं संलिहित्ताणं, लेवमायाए संजए।
दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डुए ॥१॥

पूर्वोक्त विधि से प्राप्त हुए निर्दोष आहार को चाहे वह सुगन्ध वाला हो, चाहे दुर्गन्ध वाला हो, साधु, पात्र को अंगुली से निर्लेप पूछ कर सब खा जाय, किन्तु नीरस आदि कुछ भी छोड़े नही ॥१॥

सेज्जा निसीहियाए, समावण्णो य गोयरे।
अयावयट्ठा भुच्चाणं, जइ तेण न संथरे ॥२॥
तओ कारणमुप्पणे, भत्तपाणं गवेसए।
विहिणा पुव्वउत्तेण, इमेणं उत्तरेण य ॥३॥

उपाश्रय मे अथवा आहार करने के स्थान मे बैठ कर साधु गोचरी मे मिले हुए आहार को यतना पूर्वक भोगवे, किन्तु यदि कदाचित् वह आहार अपर्याप्त हो–आवश्यकता से कम हो और उस आहार से न सरे–तृप्ति न हो अथवा अन्य कोई कारण उत्पन्न हो जाय, तो साधु, इस अध्ययन के पहले उद्देशे मे कही हुई विधि से तथा इस दूसरे उद्देशे मे कही जाने वाली विधि से आहार पानी की फिर गवेषणा करे ॥२–३॥

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥४॥

जिस गांव मे जो समय भिक्षा का हो, साधु, उसी समय में भिक्षा के लिए जावे और भिक्षाकाल समाप्त होने पर वापिस लौट आवे। और अकाल को छोड कर उचित काल में उस काल के योग्य आचरण करे अर्थात् गोचरी के काल मे गोचरी जावे और स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करे ॥४॥

अकाल में भिक्षा के लिए जाने से जो दोष होते है, उनको बताने के लिए टीकाकार ने एक दृष्टान्त की कल्पना की है। एक मुनि अकाल मे भिक्षा के लिए गये। भिक्षा न मिलने से वे वापिस लौट रहे थे। उन्हे म्लान मुख देख कर एक कालचारी साधु ने पूछा कि हे मुने ! आपको भिक्षा मिली या नही ? तब वह अकालचारी साधु कहता है कि-स्थण्डिल एवं सुनसान जगल के समान कजूसो के इस गाव मे भिक्षा कहाँ पड़ी है ? इस पर वह कालचारी साधु कहता है कि-

अकाले चरसि भिक्खू, कालं न पडिलेहसि ।
अप्पाणं च किलामेसि, संनिवेसं च गरिहसि ॥५॥

हे भिक्षु ! आप असमय मे गोचरी के लिए जाते हो और गोचरी के काल का ख्याल नही रखते हो, अतः अपनी आत्मा को खेदित करते हो और गाव की निंदा करते हो ॥५॥

सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारियं ।
अलाभु त्ति न सोइज्जा, तवुत्ति अहियासए ॥६॥

भिक्षा का समय होने पर साधु भिक्षा-गोचरी के लिए जावे और भिक्षा के लिए घूमनेरूप पुरुषार्थ करे। पुरुषार्थ करने पर भी यदि भिक्षा का लाभ न हो, तो शोक न करे, किंतु आज सहज ही मे मेरे अनशन उनोदरी आदि तप होगा-ऐसा विचार कर, क्षुधा परीषह को समभाव पूर्वक सहन करे ॥६॥

तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया।
तं उज्जुयं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥७॥

इसी प्रकार उच्च जाति के हंस आदि पक्षी और नीच जाति के कौए आदि प्राणी, यदि चुगा पानी के लिए किसी स्थान पर इकट्टे हुए हों, तो साधु, उन प्राणियो के सामने न जावे, किन्तु यतनापूर्वक अन्य मार्ग से जावे, जिससे उन प्राणियो के चुगा पानी मे अन्तराय न पड़े ॥७॥

गोयरग्गपविट्ठो य, न निसीइज्ज कत्थई।
कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥८॥

गोचरी के लिए गया हुआ साधु, कही पर भी नही बैठे और खड़ा रह कर भी विस्तृत कथा वार्ता न करे ॥८॥

अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वावि संजए।
अवलंबिया न चिट्ठिज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ॥९॥

गोचरी के लिए गया हुआ साधु, आगल-भोगल, परिघ अर्थात् दोनो किवाडों को रोक रखने वाला काठ, दरवाजा, किवाड़ आदि का अवलम्बन लेकर यानी सहारा लेकर खड़ा

नही रहे । क्योकि इस प्रकार खड़ा रहने से आत्मविराधना और संयम विराधना होने की संभावना रहती है ॥९॥

समणं माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं ।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१०॥
तमइक्कमित्तु न पविसे, न चिट्ठे चक्खुगोयरे ।
एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥११॥

श्रमण या ब्राह्मण, कृपण अथवा भिखारी आदि अन्न पानी के लिए गृहस्थ के द्वार पर खड़े हों, तो साधु, उनको लाघ कर या हटा कर गृहस्थ के घर मे प्रवेश न करे और जहा पर उस दाता की तथा भिखारियो की दृष्टि पडती हो, वहा पर भी खड़ा न रहे, किन्तु वह साधु, एकान्त स्थान मे जहां पर उनकी दृष्टि न पड़ती हो, वहा जाकर यतना पूर्वक खड़ा रहे ।

वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा ।
अप्पत्तियं सिया हुज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ।१२।

उन्हे उल्लघन कर जाने से या उनके सामने खडा रहने से, शायद उस याचक को अपने दान में अन्तराय पड़ने से और दाता को दान देने मे असुविधा होने के कारण अथवा दाता और याचक दोनो को साधु के प्रति अप्रीति–द्वेष उत्पन्न होगा और प्रवचन की यानी जिन शासन की लघुता भी होगी। अतः उन्हे उल्लघन करके गृहस्थ के घर मे जाना साधु का कल्प नही है ॥१२॥

पडिसेहिए व दिण्णे वा, तओ तम्मि नियत्तिए ।
उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१३॥

दाता द्वारा उन याचको को भिक्षा मिल जाने पर अथवा दाता द्वारा निषेध कर दिया जाने पर, जब वे याचक गृहस्थ के घर से लौट कर चले जायँ, तब साधु आहार पानी के लिए वहा जावे ॥१३॥

उप्पलं पउमं यावि, कुमुयं वा मगदंतियं ।
अण्णं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संलुंचिया दए ॥१४॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥१५॥
उप्पलं पउमं वावि, कुमुयं वा मगदंतियं ।
अण्णं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संमद्दिया दए ।१६।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥१७॥

नीलोत्पल–नीला कमल, पद्म–लाल कमल, चन्द्रविकासी सफेद कमल, अथवा मगदन्तिका–मालती मोगरे का फूल अथवा इसी प्रकार का दूसरा कोई फूल जो सचित्त हो, उसको 'सलुचिया' अर्थात् छेदन भेदन करके अथवा 'सम्मद्दिया' अर्थात् पैरो आदि से कुचल कर अथवा संघट्टा करके दाता आहार पानी दे, तो साधु, उस दाता से कहे कि इस प्रकार का आहार पानी मुझे नही कल्पता है ॥१४–१७॥

सालुयं वा विरालियं, कुमुयं उप्पलनालियं।
मुणालियं सासवनालियं, उच्छुखंडं अनिव्वुडं।१८।
तरुणगं वा पवालं, रुक्खस्स तणगस्स वा।
अण्णस्स वावि हरियस्स, आमगं परिवज्जए।१९।

कमल का मूल, पलाश का कन्द, चन्द्रविकासि सफेद कमल, कमल नाल, कमल तन्तु, सरसो की नाल अथवा सरसों की भाजी, ईख के टुकड़े—गडेरी, ये सब पदार्थ यदि शस्त्रपरिणत न हो, तो साधु ग्रहण न करे। इसी प्रकार वृक्ष के अथवा तृण के अथवा इसी प्रकार की दूसरी किसी भी हरी वनस्पति के कच्चे पत्ते अथवा कच्ची कोपल आदि जो सचित्त हो, उन्हे साधु ग्रहण न करे।।१८–१९।।

तरुणियं वा छिवाडिं, आमियं भज्जियं सइं।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं।।२०।।

जिसमे बीज नही पके हैं ऐसी मूग आदि की फली जो कच्ची हो, अथवा एक बार की भूनी हुई हो, जिसमें पक्व या पक्व-मिश्र की शका हो ऐसी फली, यदि कोई दाता, साधु को देने लगे, तो उस दाता से साधु कहे कि इस प्रकार का पदार्थ मुझे नही कल्पता है।।२०।।

तहा कोलमणुस्सिण्णं, वेलुयं कासवनालियं।
तिल पप्पडगं नीमं, आमगं परिवज्जए।।२१।।

इसी प्रकार अग्नि आदि के विना पकाया हुआ कोल–

बोर-कूट, वशकरेला, श्रीपर्णी का फल, तिलपापड़ी, नीम का फल-नीबोली, ये सब यदि सचित्त हो, तो साधु इन्हें ग्रहण नहीं करे ॥२१॥

तहेव चाउलं पिट्ठं, वियडं वा तत्तऽनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठ पूइपिण्णागं, आमगं परिवज्जए ॥२२॥

इसी प्रकार चावलो का तथा गेहू आदि का तत्काल का पीसा हुआ आटा. पहले गरम किया हुआ किन्तु मर्यादा उपरान्त हो जाने के कारण ठण्डा होकर जो फिर सचित्त होगया हो ऐसा पानी अथवा मिश्र पानी एव अपक्व पानी, तिलकूट, सरसों की खल, ये सब पदार्थ यदि सचित्त हो, तो साधु, इन्हे ग्रहण नहीं करे ॥२२॥

कविट्ठं माउलिंगं च, मूलगं मूलगत्तियं ।
आमं असत्थपरिणयं , मणसा वि न पत्थए ॥२३॥

कवीठ फल, मातुलिग-बिजौराफल, मूला और मूले के टुकडे, ये सब सचित्त हो, सम्यक् प्रकार से शस्त्र से परिणत न हुए हो, तो साधु, इन पदार्थों को ग्रहण करने की मन से भी इच्छा नही करे ॥२३॥

तहेव फलमंथूणि, बीयमंथूणि जाणिया ।
बिहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥२४॥

इसी प्रकार बोर आदि फलों का चूर्ण, बीजों का चूर्ण, बहेड़ा, रायण का फल, इन सब को सचित्त जान कर साधु,

इन्हें वर्जे दे अर्थात् ग्रहण न करे ।।२४।।

समुयाणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया ।
नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ।।२५।।

साधु, हमेशा ऊँच और नीच अर्थात् धनवान् और गरीब कुल मे, सामुदानिक रूप से गोचरी के लिए जावे, किन्तु गरीब के घर को लाघ कर धनवान् के घर पर नही जावे ।।२५।।

अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न वीसीइज्ज पंडिए ।
अमुच्छिओ भोयणम्मि, मायण्णे एसणारए ।।२६।।

आहार पानी की मात्रा को जानने वाला, आहार की शुद्धि मे सावधान बुद्धिमान् साधु, भोजन मे गृद्धिभाव न रखता हुआ तथा दीनता न दिखलाता हुआ, आहार पानी की गवेषणा करे। गवेषणा करने पर भी यदि कदाचित् भिक्षा नही मिले, तो खेद नही करे ।।२६।।

बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमं साइमं ।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा ।२७।

गृहस्थ के घर मे खादिम–मेवा आदि तथा स्वादिम–लौंग सुपारी आदि अनेक प्रकार के पदार्थ होते है, फिर भी गृहस्थ, कृपणता आदि कारण से उन पदार्थो मे से साधु को नही देवे, तो भी विद्वान् साधु, उस पर क्रोध नही करे। गृहस्थ अपनी इच्छा से देवे चाहे नही देवे, यह उसकी इच्छा की बात है, किन्तु मुनि उस पर क्रोध नही करे ।।२७।।

सयणासणवत्थं वा, भत्तं पाणं व संजए।
अदितस्स न कुप्पिज्जा, पच्चक्खे वि य दीसओ ॥२८॥

शय्या, आसन, वस्त्र, आहार, पानी आदि पदार्थ जो सामने रखे हुए दिखाई देते हो, फिर भी गृहस्थ यदि उन पदार्थों में से साधु को न दे, तो भी साधु, उस पर क्रोध न करे, क्योकि देवे चाहे नही देवे, यह गृहस्थ की इच्छा है ॥२८॥

इत्थियं पुरिसं वावि, डहरं वा महल्लगं।
वंदमाणं न जाइज्जा, नो य णं फरुसं वए ॥२९॥

स्त्री अथवा पुरुष, बालक अथवा वृद्ध, ये सब जब वदना कर रहे हों, तब उनसे साधु कुछ नही मागे तथा आहारादि न देने वाले गृहस्थ को कटु वचन भी नही कहे ॥२९॥

जे न वदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमण्णेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठइ ॥३०॥

यदि कोई गृहस्थ, साधु को वन्दना नही करे, तो साधु, उस पर क्रोध नही करे और चाहे राजा महाराजा आदि वन्दना करते हो, तो अभिमान भी नही करे कि देखो मैं कैसा माननीय हूँ जो राजा महाराजा भी मेरे चरणों मे गिरते हैं। इस प्रकार भगवान् की आज्ञा के आराधक साधु की साधुता निर्मल एवं अखण्ड रहती है ॥३०॥

सिया एगइओ लद्धुं, लोभेण विणिगूहइ।
मा मेयं दाइयं संतं, दट्ठूणं सयमायए ॥३१॥

यदि कदाचित् अकेला गोचरी गया हुआ कोई रस-लोलूपी साधु, सरस आहार मिलने पर खाने के लोभ से उसे छिपा लेवे अर्थात् नीरस वस्तु को ऊपर रख कर सरस वस्तु को नीचे दबा देवे, क्योंकि यदि यह सरस आहार गुरु महाराज देख लेंगे, तो इस सरस आहार को देख कर शायद वे सब का सब लेलेवे, मुझे कुछ भी नही दें ॥३१॥

अत्तट्ठागुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वइ।
दुत्तोसओ य से होइ, निव्वाणं च न गच्छइ ।३२।

केवल अपना पेट भरने मे लगा हुआ रसलोलुपी वह साधु, बहुत पाप उपार्जन करता है और सदा असन्तोषी बना रहता है। ऐसा साधु, निर्वाण अर्थात् मुक्ति प्राप्त नही कर सकता है ॥३२॥

सिया एगइओ लद्धुं, विविहं पाणभोयणं।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा, विवण्णं विरसमाहरे ॥३३॥

अकेला गोचरी गया हुआ कोई रसलोलुपी साधु, कदाचित् ऐसा भी करे कि अनेक प्रकार के आहार पानी को प्राप्त करके उसमे अच्छे अच्छे सरस आहार को वही कही एकान्त स्थान में खाकर बाकी बचा हुआ विवर्ण और विरस—रस रहित आहार गुरु महाराज के पास उपाश्रय मे लावे ॥३३॥

जाणंतु ता इमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी।
संतुट्ठो सेवए पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ ॥३४॥

अच्छे अच्छे सरस आहार को मार्ग मे ही खा जाने वाला रसलोलुपी साधु, ऐसा विचार करता है कि उपाश्रय में रहे हुए दूसरे साधु इस रूखे सूखे आहार को देख कर ऐसा जानेंगे कि यह मुनि बडा संतोषी और बड़ा आत्मार्थी है। इसी लिए सरस आहार की आकांक्षा नही करता है, किन्तु जैसा आहार मिलता है उसी में सन्तोष करता है और अन्त प्रान्त तथा नीरस आहार का सेवन करता है ॥३४॥

पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ॥३५॥

इस प्रकार छल कपट से पूजा को चाहने वाला, यश की कामना करने वाला और मान सन्मान का अभिलाषी वह रसलोलुपी साधु, बहुत पाप उपार्जन करता है और माया रूपी शल्य का सेवन करता है ॥३५॥

सुरं वा मेरगं वावि, अन्नं वा मज्जगं रसं ।
ससक्खं न पिवे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ।३६।

अपने सयम रूप निर्मल यश की रक्षा करने वाला साधु, त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ भगवान् की साक्षी से सुरा—जौ आदि के आटे से बनी हुई मदिरा अथवा मेरक—महुआ फल से बनी हुई मदिरा, तथा इसी प्रकार के मादक द्रव्य को न पीवे ।३६॥

पियए एगओ तेणो, न मे कोई वियाणइ ।
तस्स पस्सह दोसाइं, नियडिं च सुणेह मे ॥३७॥

मुझे कोई भी नही देखता है, ऐसा मान कर जो साधु मदिरा पीता है, वह भगवान् की आज्ञा का लोप करने वाला होने से भगवान् का चोर है। हे शिष्यो ! उस मदिरा पीने वाले साधु के दोषो को देखो और मैं उसके मायाचार का वर्णन करता हूँ सो तुम उसे सुनो ॥३७॥

वड्ढइ सुंडिया तस्स, माया मोसं च भिक्खुणो ।
अयसो य अनिव्वाणं, सययं च असाहुया ॥३८॥

उस मद्यपान करने वाले साधु की मद्य मे आसक्ति–प्रीति बढती है और झूठ कपट भी बढता है तथा अपयश बढता है। मद्य नही मिलने पर अशाति बढती है। इस प्रकार मद्य-पान करने वाले का असाधुपन निरन्तर बढता रहता है ॥३८॥

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई ।
तारिसो मरणंते वि, न आराहेइ संवरं ॥३९॥

जिस प्रकार चोर अपने किये हुए दुष्कर्मो से हमेशा चिन्तित रहता है, उसी प्रकार वह मदिरा पीने वाला दुर्बुद्धि साधु, सदा व्याकुल एव भयभीत बना रहता है। उसके चित्त को कभी शाति नही मिलती, ऐसा साधु, मृत्यु के समय तक भी चारित्रधर्म की आराधना नही कर सकता है ॥३९॥

आयरिए नाराहेइ, समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं ।४०।

वह मदिरा पीने वाला साधु, आचार्य महाराज तथा

साधुओ की किसी की भी विनय वैयावच्च आदि से आराधना नही कर सकता है। जब गृहस्थ लोग,उस साधु के मदिरा पान रूपी दुर्गुण को जान लेते है, तब वे भी उसकी निन्दा करते हैं ॥४०॥

एवं तु अगुणप्पेही, गुणाणं च विवज्जए।
तारिसो मरणंते वि, नाराहेइ संवरं ॥४१॥

इस प्रकार अवगुणों को धारण करनें वाला और ज्ञानादि गुणो को छोड़ने वाला वह मदिरा पीने वाला साधु, मृत्यु के समय तक भी चारित्र-धर्म की आराधना नही कर सकता है ॥४१॥

तवं कुव्वइ मेहावी, पणीयं वज्जए रसं।
मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कसो ॥४२॥

मदिरा पान एवं प्रमाद आदि दुर्गुणो से रहित तपस्वी बुद्धिमान् साधु, स्निग्ध रसो को छोड़ कर निरभिमान पूर्वक तपस्या करता है ॥४२॥

तस्स पस्सह कल्लाणं, अणेगसाहुपूइयं।
विउलं अत्थसंजुत्तं, कित्तइस्सं सुणेह मे ॥४३॥

गुरु महाराज शिष्यो से कहते हैं कि हे शिष्यो ! उपरोक्त गुणो के धारक साधु का कल्याण सयम, अनेक मुनियो द्वारा पूजित एवं प्रशसित महान् मोक्ष रूपी अर्थ से युक्त होता है, तुम उसे देखो। मैं उस साधु के गुणों का वर्णन करूँगा,

अतः तुम मुझ से उन गुणो को सुनो ॥४३॥

एवं तु गुणप्पेही, अगुणाणं च विवज्जए ।
तारिसो मरणंते वि, आराहेइ संवरं ॥४४॥

इस प्रकार ज्ञानादि गुणो को धारण करनें वाला और दुर्गुणो को छोडने वाला साधु, मृत्यु के समय तक भी ग्रहण किये हुए चारित्र धर्म की भली प्रकार आराधना करता रहता है अर्थात् मारणान्तिक कष्ट पडने पर भी वह ग्रहण किये हुए चारित्र धर्म को नही छोडता है ॥४४॥

आयरिए आराहेइ, समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ।४५।

उपरोक्त गुणो का धारक साधु, आचार्य महाराज की तथा दूसरे मुनियो की विनय वैयावच्च द्वारा आराधना करता है और जब ग्रहस्थ लोगो को भी उसके गुणो का पता लग जाता है, तब वे उसकी भक्ति करते हैं अर्थात् विशेष सन्मान की दृष्टि से देखते हैं और उसके गुणो की प्रंगसा करते हैं ॥४५॥

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे ।
आयारभावतेणे य, कुव्वइ देवकिव्विसं ॥४६॥

जो साधु, तप का चोर, व्रत का चोर, या वचन का चोर, रूप का चोर और आचार का चोर तथा भाव का चोर होता है अर्थात् अपने मे तप, व्रत-वचन, रूप, आचार और भाव न होने पर भी कपट से अपने में दिखाना चाहता है, वह

साधु किल्विषी देवों मे अर्थात् नीच पद वाले देवों में उत्पन्न होता है ॥४६॥

लद्धुण वि देवत्तं, उववण्णो देवकिव्विसे ।
तत्था वि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं ।४७।

उपरोक्त चोर साधु, देव गति को प्राप्त करके भी अस्पृश्य जाति के किल्विषी देवो में उत्पन्न होता है । वहां पर भी वह यह नही जानता है कि मैंने ऐसा कौनसा पाप कर्म किया है जिससे मुझे यह फल प्राप्त हुआ है ॥४७॥

तत्तो वि से चइत्ताणं, लब्भिही एलमूयगं ।
नरगं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥४८॥

वह किल्विषी देव, वहाँ से चव कर एल मूक–जो बकरे की तरह भाषा बोलने वाला मनुष्य होकर फिर नरक गति को अथवा तिर्यंच गति को प्राप्त होता है, जहाँ पर बोधि–जिनधर्म की प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है ॥४८॥

एयं च दोसं दट्ठूणं, णायपुत्तेण भासियं ।
अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ॥४९॥

इस प्रकार पूर्वोक्त दोषो को ज्ञातपूत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने केवनज्ञान से देख कर फरमाया है । अतः वुद्धिमान् साधु, अणुमात्र भी–जरा-सा भी कपटपूर्ण असत्य भाषण को वर्जे अर्थात् किञ्चिन्मात्र भी मायामृषावाद का सेवन नही करे ॥४९॥

सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं, संजयाण बुद्धाण सगासे।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिइंदिए, तिव्वलज्जगुणवं विहरिज्जासि।

जितेन्द्रिय एवं एकाग्र चित्त वाला अनाचार से अत्यंत लज्जित होने वाला अर्थात् अनाचार भीरू गुणवान् साधु, तत्त्व को जानने वाले साधुओ के पास भिक्षा के आधाकर्मादि दोषों को सीख कर, एषणासमिति में पूर्ण उपयोग रखे एवं भिक्षा की समाचारी का भली प्रकार से पालन करे ५०॥

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना है, वैसा ही मैंने तुमसे कहा है।

॥ पांचवे अध्ययन का दूसरा उद्देशक समाप्त ॥

॥ पाँचवा अध्ययन समाप्त ॥

महाचार नामक छठा अध्ययन

नाणदंसणसंपन्नं, संजमे य तवे रयं।
गणिमागमसंपन्नं, उज्जाणम्मि समोसढं ॥१॥
रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया।
पुच्छंति निहुअप्पाणो, कहं भे आयारगोयरो ॥२॥

एक समय विशिष्ट श्रुत-ज्ञान दर्शन के धारी, सतरह

प्रकार के संयम और बारह प्रकार के तप में रत, आचारांग आदि अंगोपांग रूप आगम के ज्ञाता, छत्तीस गुणों के धारक, आचार्य महाराज, गांव समीप के उद्यान–बगीचे में पधारे। तब राजा, राजमन्त्री, ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि, मन को एकाग्र करके विनय और भक्ति पूर्वक उन आचार्य महाराज से पूछने लगे कि हे भगवन् ! आपका आचार गोचर–भिक्षावृत्ति आदि धर्म किस प्रकार का है ? ॥१–२॥

तेसिं सो निहुओ दंतो, सव्वभूयसुहावहो।
सिक्खाए सुसमाउत्तो, आयक्खइ वियक्खणो ॥३॥

इस प्रकार जब राजा आदि ने प्रश्न पूछा, तब निश्चल–चंचलता रहित, इन्द्रियों के दमन करने वाले, सब प्राणियों के हितकारी, ग्रहण और आसेवन रूप शिक्षा से युक्त विचक्षण, धर्मोपदेश मे कुशल आचार्य महाराज, उन राजा आदि को जैन साधुओ का आचारगोचर रूप धर्म का कथन करते हुए उनके प्रश्न का उत्तर देते हैं ॥३॥

हंदि धम्मत्थकामाणं, निग्गंथाणं सुणेह मे।
आयारगोयरं भीमं, सयलं दुरहिट्ठियं ॥४॥

हे देवानुप्रियो ! श्रुतचारित्ररूप धर्म और मोक्ष के अभिलाषी निर्ग्रन्थ मुनियों का समस्त आचार गोचर जो कि कर्म रूपी शत्रुओं के लिए भयङ्कर है तथा जिसे धारण करने मे कायर पुरुष घबराते हैं, ऐसे आचार गोचर का मैं वर्णन करता हूँ, अतः तुम सावधान होकर सुनो ॥४॥

नन्नत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं।
विउलट्ठाणभाइस्स, न भूयं न भविस्सइ ॥५॥

विपुल स्थान अर्थात् मोक्ष मार्ग के आराधक मुनियों का इस प्रकार का उत्तम आचार जिन शासन के अतिरिक्त अन्य मतों मे कही भी नही कहा गया है, जो कि लोक में अत्यन्त दुष्कर है अर्थात् जिसका पालन करना बहुत कठिन है। जिन-शासन के सिवाय अन्य मतों मे ऐसा आचार न तो गतकाल मे कहीं हुआ है और न आगामी काल में कही होगा और न वर्त्तमान काल में कही पर है ॥५॥

सखुड्डगवियत्ताणं, वाहियाणं च जे गुणा।
अखंडफुडिया कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा ॥६॥

बालक, वृद्ध, रोगी और नीरोगी इन सब के लिए जो गुण अखण्ड और निर्दोष रूप से अर्थात् देशविराधना और सर्व विराधना से रहित धारण करने चाहिए, उन गुणों का जैसा स्वरूप है, वैसा ही मैं वर्णन करता हूँ। तुम सावधान होकर सुनो ॥६॥

दस अट्ठ य ठाणाइं, जाइं बालोऽवरज्झइ।
तत्थ अण्णयरे ठाणे, निग्गंथत्ताउ भस्सइ ॥७॥

साधु आचार के दस और आठ अर्थात् अठारह स्थान हैं, जो बाल—अज्ञानी साधु, इन अठारह स्थानो मे से किसी एक भी स्थान की विराधना करता है, वह साधुपने से भ्रष्ट हो जाता है ॥७॥

वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंकनिसिज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं ॥८॥

छह व्रत अर्थात् प्राणातिपात विरमण आदि पाँच महाव्रत और छठा रात्रि भोजन विरमण व्रत, इन छह व्रतों का पालन करना, छहकाय अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छह काय जीवो की रक्षा करना, अकल्पनीय पदार्थों को ग्रहण न करना, गृहस्थ के वर्त्तन मे भोजनादि नही करना, पलंग पर न लेटना, गृहस्थ के घर बिना खास कारण न बैठना, स्नान न करना, तथा शरीर का शृंगार न करना। साधु के ये अठारह स्थान हैं ॥८॥

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥९॥

प्राणी मात्र पर दया रूप अहिंसा अनन्त सुखो को देने वाली है, ऐसा श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने केवलज्ञान से जाना है। इसलिए भगवान् ने उपरोक्त अठारह स्थानो में इस अहिंसा महाव्रत को पहला स्थान कहा है ॥९॥

जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा, न हणे णो वि घायए ॥१०॥

चौदह राजू परिमाण लोक में जितने त्रस अथवा स्थावर प्राणी हैं, उनको जानपने अथवा अजानपने से, प्रमादवश स्वयं मारे नही, और दूसरो से मरवावे नही, इसी प्रकार मारने

वालों की अनुमोदना भी नहीं करे ॥१०॥

प्राणियो की हिसा क्यों नही करनी चाहिए ? इसके लिए सूत्रकार फरमाते हैं।

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥११॥

त्रस और स्थावर सभी जीव, जीना चाहते हैं, लेकिन मरना कोई भी नही चाहता है। इसलिए छह काय जीवों के रक्षक निर्ग्रंथ साधु, उस महा भयंकर प्राणिवध रूप जीव हिंसा का सर्वथा त्याग करते हैं ॥११॥

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥१२॥

अब मृषावाद विरमण रूप दूसरे स्थान के विषय में कहते हैं। साधु, अपने खुद के लिये अथवा दूसरों के लिए, क्रोध से एवं मान,माया,लोभ से अथवा भय से, पर पीड़ाकारी–जिससे दूसरों को दु.ख पहुँचे ऐसा झूठ स्वयं न बोले और न दूसरों से वोलावे तथा झूठ वोलने वाले का अनुमोदन भी नही करे ॥

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरिहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥१३॥

संसार में सव महापुरुषों ने मृषावाद–असत्य भाषण को निन्दित वतलाया है, क्योंकि असत्य भाषण सव प्राणियों के लिए अविश्वास का कारण है, अर्थात् असत्यवादी का कोई

विश्वास नही करता। इसलिए साधु, मृषावाद का सर्वथा त्याग कर दे ॥१३॥

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं सि अजाइया ॥१४॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं।
अण्णं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥१५॥

अब तीसरे अदत्तादान विरमण व्रत का कथन किया जाता है। सचेतन शिष्यादिक हों अथवा अचेतन वस्त्र पात्रादिक हो, बहुमूल्य पदार्थ हों अथवा अल्प मूल्य वाला हो, यहां तक कि दाँतो को साफ करने का तृणमात्र भी हो, साधु, उस पदार्थ के स्वामी की आज्ञा लिए बिना आप स्वयं ग्रहण नही करते हैं और न दूसरों से ग्रहण करवाते है और अदत्त ग्रहण करते हुए दूसरों को भला भी नही समझते हैं ॥१४-१५॥

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं।
नायरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥१६॥

मैथुन विरमण व्रत नामक चौथा स्थान कहा जाता है। लोक में चारित्र का भंग करने वाले स्थानों को वर्जने वाले पाप भीरु मुनि, नरकादि दुर्गतियो मे डालने वाला और भयङ्कर प्रमाद को पैदा करने वाला, परिणाम में दुखदायी ऐसे अब्रह्मचर्य का कदापि सेवन नही करते हैं ॥१६॥

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१७॥

यह अब्रह्मचर्य, अधर्म का मूल है और महादोषो का समूह है । इसीलिए निर्ग्रंथ साधु मैथुन के ससर्ग को सर्व प्रकार से छोडते हैं ॥१७॥

विडमुब्भेइमं लोणं, तिल्लं सप्पिं च फाणियं ।
न ते संनिहिमिच्छंति, णायपुत्तवओरया ॥१८॥

अब परिग्रह विरमण व्रत नामक पाचवाँ स्थान कहा जाता है । ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के वचनो मे रत रहने वाले मुनि, विड-लवण यानी पकाया हुआ अचित्त लवण, सामुद्रिक लवण, तेल, घी, गुड आदि पदार्थों का सग्रह करना नही चाहते हैं अर्थात् रात्रि मे वासी रखना नही चाहते हैं ॥१८॥

लोहस्सेस अणुप्फासे, मण्णे अण्णयरामवि ।
जे सिया संनिहिकामे, गिही पव्वइए न से ॥१९॥

किसी भी प्रकार के पदार्थों का सग्रह करना, लोभ का अनुस्पर्श प्रभाव है । अतः तीर्थङ्कर देव ऐसा मानते हैं अथवा तीर्थङ्कर देव ने ऐसा फरमाया है कि यदि कदाचित् किसी भी समय जो साधु, किञ्चित्मात्र भी संग्रह करने की इच्छा करता है, तो वह साधु नही है, किन्तु भाव से गृहस्थ है ॥१९॥

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजम लज्जट्ठा, धारंति परिहंरंति य ।२०।

यदि कोई यह शंका करे कि साधु, वस्त्र पात्र आदि वस्तुएँ अपने पास रखते हैं, तो क्या वस्तुएँ संग्रह एवं परिग्रह नही है ? इसका समाधान किया जाता है कि साधु लोग, जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, रजोहरण आदि शास्त्रोक्त संयम के उपकरण धारण करते है और अनासक्त भाव से उनका उपभोग करते है, वह केवल संयम की रक्षा के लिए और लज्जा निवारण के लिए ही करते हैं ॥२०॥

न सो परिग्गहो वुत्तो, णायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥२१॥

वस्त्र पात्र आदि रखने से साधु को परिग्रह दोष क्यों नही लगता है ? इसका समाधान किया जाता है—छहकाय जीवो के रक्षक ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अनासक्त भाव से वस्त्र पात्रादि रखने को परिग्रह नही कहा है, किन्तु मूर्च्छा भाव को ही परिग्रह कहा है और भगवान् से निश्चय करके गणधर देव श्री मुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहा है ॥२१॥

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खणपरिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं ।२२।

यदि कोई यह शंका करे कि उपकरणो के अभाव में

भी मूर्च्छा हो सकती है. तो वस्त्र आदि उपकरणो के होने पर मूर्च्छा कैसे नही होगी ? इसका समाधान किया जाता है। तत्त्वज्ञ मुनि, संयम के सहायभूत वस्त्र पात्र आदि उपकरणो को केवल संयम की रक्षा के लिये ही रखते है, किन्तु मूर्च्छा भाव से नही। और विशेष तो क्या, वे तो अपने शरीर पर भी ममत्व भाव नही रखते हैं ॥२२॥

अहो निच्चं तवोकम्मं, सव्वबुद्धेहिं वण्णियं।
जाय लज्जा समावित्ती, एगभत्तं च भोयणं ।२३।

अब रात्रि भोजन विरमण व्रत रूप छठे स्थान का कथन किया जाता है। सभी तीर्थङ्कर देवो ने फरमाया है कि-अहो ! साधु के लिए यह कैसा नित्य तप है जो जीवन पर्यन्त संयम निर्वाह के लिए भिक्षावृत्ति करनी होती है और एक भक्त अर्थात् सिर्फ दिन मे ही आहार करना होता है और रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग करना होता है ॥२३॥

संतिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे? ॥२४॥

अब रात्रि भोजन के दोष बतलाये जाते हैं। ये प्रत्यक्ष में त्रस और स्थावर रूप बहुत से सूक्ष्म प्राणी हैं, जो रात्रि में दिखाई नही देते, तो उनकी रक्षा करते हुए आहार की शुद्ध एषणा और भोजन करना कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता है। इसलिए छह काय जीवों के रक्षक मुनि, रात्रि भोजन कदापि नही करते हैं ॥२४॥

उदउल्लं बीयसंसत्तं, पाणा निवडिया महिं।
दिया ताइं विवज्जिजज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ॥२५॥

रात्रि भोजन में दोष दिखा कर अब रात्रि में आहार आदि ग्रहण करने में दोष दिखलाते हैं। जमीन पर पड़ा हुआ पानी, अथवा सचित्त जल मिश्रित आहार, जमीन पर बिखरे हुए बीज, अथवा सचित्त बीजादि से युक्त आहार और जमीन पर रहे हुए कीड़े मकोड़े आदि प्राणी, इन सब को दिन मे तो आँखो से देख कर बचाया जा सकता है, किन्तु रात्रि में उनकी रक्षा करते हुए कैसे चला जा सकता है ? ॥२५॥

एयं च दोसं दट्ठूणं णायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥२६॥

ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा बतलाये हुए प्राणिहिंसा रूप दोष को तथा आत्मा की विराधना आदि अन्य दोषों को देख कर—जान कर, निर्ग्रन्थ मुनि, चार प्रकार के आहारों में से किसी भी प्रकार के आहार को रात्रि में नहीं खाते हैं और न ग्रहण करते हैं ॥२६॥

पुढविकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥२७॥

अब पृथ्वीकायिक जीवो की रक्षा रूप सातवाँ स्थान का कथन किया जाता है। सुसमाधिवान् साधु, मन वचन और काया रूप तीन योगो से और करना, कराना, अनुमोदना रूप

तीन करण से पृथ्वीकाय की हिंसा नही करते है, दूसरो से नही करवाते है और करने वालो की अनुमोदना भी नही करते हैं।

पुढवीकायं विहिंसंतो, हिंसइ उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥२८॥

पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ प्राणी, उसकी नेश्राय में रहे हुए चक्षुओ द्वारा दिखाई देने वाले और चक्षुओं द्वारा नही दिखाई देने वाले अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियो की भी हिंसा करता है ॥२८॥

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
पुढविकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥२९॥

इसलिए नरकादि दुर्गतियो को बढाने वाले इन दोषो को जान कर साधु, पृथ्वीकाय के जीवो के हिंसामय आरम्भ का यावज्जीवन के लिए त्याग कर देवे ॥२९॥

आउकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥३०॥

अब अप्काय की रक्षा रूप आठवा स्थान कहा जाता है। सुसमाधिवान् साधु, मन वचन काया रूप तीन योगो से और करना कराना अनुमोदना रूप तीन करण से, अप्काय की हिंसा नही करते हैं, दूसरो से नही करवाते है और करने वालो की अनुमोदना भी नही करते हैं ॥३०॥

आउकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥३१॥

अप्काय की हिंसा करता हुआ प्राणी, उसकी नेश्राय में रहे हुए चाक्षुष-आखों से दिखाई देने वाले और अचाक्षुष-आंखो से दिखाई नही देने वाले अनेक त्रस और स्थावर प्राणियो की हिंसा कर देता है ३१॥

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
आउकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥३२॥

इसलिए दुर्गति को बढाने वाले इन दोषों को जान कर साधु, अप्काय के समारम्भ का यावज्जीवन के लिए त्याग कर देवे ३२॥

जायतेयं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए ।
तिक्खमण्णयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥३३॥

अब नववां स्थान कहा जाता है। साधु,अग्नि को जलाने की कभी भी इच्छा नही करे, क्योकि यह पापकारी है और लोह के शस्त्रों से भी अधिक तीक्ष्ण है। यह सभी तरफ से, दुराश्रय है अर्थात् चारो ओर से धार वाला होने के कारण इसे सह लेना अत्यन्त दुष्कर है ३३॥

पाइणं पडिणं वावि, उड्ढं अणुदिसामवि ।
अहे दाहिणओ वावि, दहे उत्तरओ वि य ॥३४॥

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा में तथा चारों

विदिशाओं में एवं ऊँची और नीची दिशा में अर्थात् दस ही दिशाओं में रहे हुए जीवों को यह अग्नि जला कर भस्म कर देती है ॥३४॥

भूयाणमेसमाघाओ, हव्ववाहो न संसओ ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे ॥३५॥

यह अग्नि, प्राणियों का आघात रूप है अर्थात प्राणियों का घात करने वाली है, इसमें कुछ भी सन्देह नही है । इसलिए संयमी मुनि, उस अग्नि का प्रकाश के लिए तथा शीत निवारण आदि कार्यों के लिए किञ्चिन्मात्र भी आरम्भ नही करे ॥३५॥

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तेउकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥३६॥

इसलिए नरकादि दुर्गतियो को बढाने वाले उपरोक्त दोषों को जान कर साधु, अग्निकाय के समारम्भ का जीवन पर्यन्त त्याग कर दे ३६॥

अणिलस्स समारंभं, बुद्धा भण्णंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेयं, नेयं ताईहिं सेवियं ॥३७॥

अब दसवां स्थान कहा जाता है । तीर्थङ्कर भगवान् वायुकाय के आरम्भ को उसी प्रकार का अर्थात अग्निकाय के आरम्भ जैसा अत्यन्त पापकारी मानते हैं अर्थात् केवलज्ञान द्वारा जानते हैं । इसलिए छहकाय जीवो के रक्षक मुनियों को

वायुकाय का समारम्भ कदापि नही करना चाहिए ॥३७॥

तालियंटेण पत्तेण, साहाविहुयणेण वा ।
न ते वीइउमिच्छंति, वेयावेऊण वा परं ॥३८॥

वे छह काय जीवों के रक्षक मुनि, ताड़वृक्ष के पंखे से, पत्ते से अथवा वृक्ष की शाखा के हिलाने से, अपने ऊपर हवा करना नही चाहते हैं, तथा दूसरों से हवा करवाना भी नही चाहते हैं और हवा करने वाले की अनुमोदना भी नही करते हैं ॥३८॥

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
न ते वायमुईरंति, जयं परिहरंति य ॥३९॥

जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन—रजोहरण आदि संयमोपकरण हैं, उनसे भी वे वायुकाय की उदीरणा नही करते हैं, किन्तु यतनापूर्वक धारण करते हैं एवं यतनापूर्वक उठाते और रखते है ॥३९॥

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वायुकाय समारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥४०॥

इसलिए नरकादि दुर्गतियो को बढ़ाने वाले इन दोषों को जान कर साधु, वायुकाय के समारम्भ का यावज्जीवन के लिए त्याग कर दे ॥४०॥

वणस्सइं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिया ॥४१॥

अब ग्यारहवां स्थान कहा जाता है। सुसमाधिवान् साधु, मन वचन काया रूप तीन योगों से और करना कराना अनुमोदना रूप तीन करण से, वनस्पतिकाय की हिंसा नही करते हैं, दूसरो से नही करवाते हैं और करने वालो की अनुमोदना भी नही करते हैं ॥४१॥

वणस्सइं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥४२॥

वनस्पतिकाय की हिंसा करता हुआ प्राणी, उसकी नेश्राय में रहे हुए चाक्षुष–आँखों द्वारा दिखाई देने वाले और अचाक्षुष–आँखो द्वारा दिखाई न देने वाले अनेक त्रस और स्थावर प्राणियो की भी हिंसा कर देता है ॥४२॥

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वणस्सइसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥४३॥

इसलिए नरकादि दुर्गतियों को बढ़ाने वाले इन दोषों को जान कर साधु, वनस्पतिकाय के समारम्भ का यावज्जीवन के लिए त्याग कर दे ॥४३॥

तसकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥४४॥

अब बारहवां स्थान कहा जाता है। सुसमाधिवान् साधु, मन वचन काया रूप तीन योगो से और करना कराना अनुमोदना रूप तीन करण से, त्रसकाय की हिंसा नही करते हैं,

दूसरो से नहीं करवाते है और करने वालों की अनुमोदना भी नही करते हैं ॥४४॥

तसकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥४५॥

त्रसकाय की हिंसा करता हुआ प्राणी, त्रसकाय की नेश्राय मे रहे हुए चाक्षुष--आंखो से दिखाई देने वाले और अचाक्षुष--आखो से दिखाई न देने वाले अनेक त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ॥४५॥

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तसकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥४६॥

इसलिए नरकादि दुर्गतियों को वढाने वाले इन दोषों को जान कर साधु, त्रसकाय के समारम्भ का यावज्जीवन के लिए त्याग कर देवे ॥४६॥

जाइं चत्तारिऽभुज्जाइं, इसिणाहारमाइणि ।
ताइं तु विवज्जंतो, संजमं अणुपालए ॥४७॥

अब तेरहवाँ स्थान कहा जाता है । जो आहार शय्या वस्त्र पात्र ये चार पदार्थ, मुनियो के लिए अकल्पनीय हों, उनको त्यागता हुआ मुनि, सयम का यथाविधि पालन करे ॥४७॥

पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य ।
अकप्पियं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥४८॥

पिण्ड—आहार, शय्या—स्थान, वस्त्र और चौथा पात्र, इन चार में से कोई भी अकल्पनीय हो, तो साधु उसको ग्रहण करने की इच्छा तक न करे, और यदि कल्पनीय हो, तो ग्रहण कर सकता है ॥४८॥

जे नियागं ममायंति, कीयमुद्देसियाहडं ।
वहं ते समणुजाणंति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥४६॥

नियाग—आमन्त्रित आहार आदि क्रीत—साधु के लिए मोल लिया हुआ, औद्देशिक—साधु के निमित्त बनाया हुआ, आहृत—साधु के लिए सामने लाया हुआ, इनमें से किसी भी प्रकार का आहारादि जो साधु लेते हैं वे उस आहारादि के बनाने में हुई हिंसा की अनुमोदना करते हैं । इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है ॥४६॥

तम्हा असणपाणाइं, कीयमुद्देसियाहडं ।
वज्जयंति ठिअप्पाणो, निग्गंथा धम्मजीविणो ।५०।

इसलिए संयम में स्थिर आत्मा वाले, धर्ममय जीवन व्यतीत करने वाले निर्ग्रन्थ मुनि क्रीत—साधु के लिए मोल लिये हुए, औद्देशिक—साधु के निमित्त बनाये हुए और आहृत—साधु के लिए सन्मुख लाये हुए आहार पानी आदि को ग्रहण नहीं करते हैं ॥५०॥

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो ।
भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ ॥५१॥

अब चौदहवां स्थान कहा जाता है-जो साधु, गृहस्थ की कासी आदि की कटोरी में अथवा कासी आदि के थाल में और मिट्टी के बरतन मे आहार पानी भोगता है, वह साधु के आचार से भ्रष्ट हो जाता है ॥५१॥

सीओदगसमारंभे, मत्तधोअणछड्डुणे ।
जाइं छंनंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥५२॥

जब साधु, गृहस्थ के बरतन मे भोजन करने लग जायगा, तो सचित्त जल का आरम्भ होगा अर्थात् गृहस्थ उस बरतन को कच्चे जल से धोवेगा, उसमे अप्काय की हिंसा होगी और बरतनों को धोये हुए पानी को अयतनापूर्वक इधर उधर डालने से बहुत से जीवो की हिंसा होगी । इसलिए गृहस्थ के बरतन मे भोजन करने मे तीर्थङ्कर भगवान् ने साधु के लिए असंयम देखा है ॥५२॥

पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ न कप्पइ ।
एयमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे ॥५३॥

गृहस्थ के बरतन में भोजन करने से पश्चात्कर्म और पुर.कर्म दोष लगने की संभावना रहती है । इसलिए साधु को गृहस्थ के बरतन मे भोजन करना नहीं कल्पता है । अतः निर्ग्रन्थ मुनि, गृहस्थ के बरतन में भोजन नही करते हैं ॥५३॥

आसंदीपलिअंकेसु, मंचमासालएसु वा ।
अणायरियमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा ॥५४॥

नासंदीपलिअंकेसु, न निसिज्जा न पीढए ।
निग्गंथाऽपडिलेहाए, बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ।।५५।।

अब पन्द्रहवां स्थान कहा जाता है।-बेत आदि की कुर्सी पर और पलग पर तथा खाट और आरामकुर्सी आदि पर बैठना या सोना, साधुओ के लिए अनाचार रूप है। क्योकि उपरोक्त आसनों की प्रतिलेखना नही हो सकती है।

अत. तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाले साधु, बेंत आदि की कुर्सी पर और पलंग पर न बैठे और न सोवे। इसी प्रकार रूई की गद्दी सहित आसन पर तथा पीठ अर्थात् बेत के बने हुए आसन विशेष पर न बैठे और न सोवे।

गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदी पलिअंको य, एयमट्ठ विवज्जिया ।।५६।।

उपरोक्त आसनो की प्रतिलेखना क्यो नही हो सकती है ? इसका कारण बताया जाता है। बेंत की कुर्सी पलंग आदि इन सब मे उडे–गहरे छिद्र होते है। अत: बेइन्द्रियादि प्राणियों की पडिलेहणा होना कठिन है। अतः मुनियो को बेत की कुर्सी और पलग आदि पर बैठना और सोना नही चाहिए।

गोयरग्गपविट्ठस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ ।
इमेरिसमणायारं, आवज्जइ अबोहियं ।।५७।।

अब सोलहवां स्थान कहा जाता है। गोचरी के लिए गया हुआ जो साधु, गृहस्थ के घर बैठता है, तो उसे अगली गाथा

में कहा जाने वाला अनाचार–दोष लगने की सम्भावना रहती है तथा उसे मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है ॥५७॥

विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं च वहे वहो ।
वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिणं ॥५८॥

गृहस्थ के घर बैठने से साधु के ब्रह्मचर्य के नाश होने की तथा प्राणियों का वध होने से संयम दूषित होने की संभावना रहती है तथा उसी समय यदि कोई भिखारी भिक्षा के लिये आवे, तो उसकी भिक्षा में अन्तराय होने की सम्भावना रहती है और साधु के चारित्र पर सन्देह होने से गृहस्थ कुपित हो सकता है ॥५८॥

अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वा वि संकणं ।
कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥५६॥

गृहस्थ के घर बैठने से साधु के ब्रह्मचर्य की गुप्ति (रक्षा) नही हो सकती और स्त्रियों के विशेष संसर्ग से ब्रह्मचर्य व्रत मे शका उत्पन्न हो सकती है। इसलिए कुशील को बढ़ाने वाले इस स्थान को साधु, दूर से ही वर्ज दे ॥५६॥

तिण्हमण्णयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पई ।
जराए अभिभूयस्स, वाहियस्स तवस्सिणो ॥६०॥

अब इस विषय मे अपवाद बतलाया जाता है। जरा अभिभूत अर्थात् अत्यन्त वृद्ध, रोगी और तपस्वी, इन तीन मे से किसी भी साधु की विशेष अशक्ति के कारण गृहस्थ के घर

बैठना कल्पता है। अर्थात् शारीरिक निर्बलता के कारण यदि ये गृहस्थ के घर बैठें, तो पूर्वोक्त दोषों की संभावना नही है।

वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए।
वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो ॥६१॥

अब सतरहवां स्थान कहा जाता है। रोगी हो अथवा निरोग हो, जो साधु स्नान करने की इच्छा करता है, वह साधु के आचार से भ्रष्ट हो जाता है और उसका संयम भी दूषित हो जाता है ॥६१॥

संतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलगासु य।
जे य भिक्खू सिणायंतो, वियडेणुप्पलावए ॥६२॥

खार वाली भूमि एवं पोली भूमि में और फटी हुई दरारों वाली भूमि मे बेइन्द्रियादि सूक्ष्म प्राणी होते हैं। अतः यदि साधु, गरम अर्थात् प्रासुक जल से भी स्नान करेगा, तो उन सूक्ष्म जीवो की हिंसा हुए बिना न रहेगी, क्योकि या तो वे पानी से वह जायेंगे अथवा पानी में डूब कर मर जायँगे।

तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ॥६३॥

इसलिए शुद्ध संयम का पालन करने वाले साधु, ठण्डे जल से अथवा गरम जल से कभी भी स्नान नही करते हैं, किंतु वे जीवनपर्यन्त अस्नान–स्नान नही करने रूप कठिन व्रत का पालन करते हैं ॥६३॥

सिणाणं अदुवा कक्कं, लुद्धं पउमगाणि य ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइ वि ॥६४॥

संयमी पुरुष, स्नान अथवा कल्क--चन्दनादि सुगन्धी द्रव्य, लोध्र और कुंकुम केसर आदि सुगन्धित द्रव्यो का अपने शरीर पर उवटन या लेपन करने के लिए कदापि सेवन नही करते हैं ॥६४।

नगिणस्स वावि मुंडस्स, दीहरोमनहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स, किं विभूसाइ कारियं ॥६५॥

अब अठारहवां स्थान कहा जाता है। प्रमाणोपेत श्वेत वस्त्र रखने वाला स्थविर कल्पी अथवा सर्वथा नग्न रहने वाला जिनकल्पी, द्रव्य और भाव से मुण्डित, जिसके नख और केश बढे हुए है, तथा जो मैथुन भाव से उपशान्त अर्थात् दूर रहने वाला है, ऐसे साधु को शरीर की शोभा एवं शृंगार से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नही है ॥६५॥

विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥६६॥

शरीर की विभूषा एवं शोभा शृंगार करने से साधु को चिकने कर्मों का बन्ध होता है, जिससे वह जन्म जरा मरण के भय से भयंकर और दुस्तर--मुश्किल से तिरा जाने वाले संसार सागर में गिर पड़ता है ॥६६॥

विभूसावत्तियं चेयं, बुद्धा मण्णंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेयं, नेयं ताईहिं सेवियं ॥६७॥

तीर्थङ्कर भगवान् शरीर की विभूषा सम्बन्धी संकल्प विकल्प करने वाले चित्त को चिकने कर्मबन्ध का कारण और बहुत पापो की उत्पत्ति का हेतु मानते है। इसलिए छहकाय जीवो के रक्षक मुनियो को शरीर की विभूषा का चिन्तन भी नही करना चाहिए ॥६७॥

खवंति अप्पाणममोहदंसिणो,तवे रया संजम अज्जवे गुणे।
धुणंति पावाइं पुरेकडाइं,नवाइं पावाइं न ते करंति।६८।

मोह रहित तथा तत्त्वो के पदार्थ स्वरूप के ज्ञाता, सतरह प्रकार के सयम का पालन करने वाले, आर्जवता—सरलता आदि गुणो से युक्त, बारह प्रकार के तप मे रत रहने वाले, पूर्वोक्त अठारह स्थानो का यथावत् पालन करने वाले निर्ग्रन्थ मुनि, पहले किये हुए पाप कर्मों का क्षय कर देते हैं और नवीन पाप कर्मों का बन्ध नही करते हैं। इस प्रकार वे मुनि कषायादि मल का सर्वथा क्षय करके अपनी आत्मा को निर्मल एव विशुद्ध बना लेते है ॥६८॥

सओवसंता अममा अकिंचणा,
सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो।
उउप्पसण्णे विमले व चंदिमा,
सिद्धिं विमाणाइं उवेंति ताइणो ॥६८॥

सदा उपशांत, मोह ममता रहित, निष्परिग्रही, आध्यात्मिक विद्या का अनुसरण करने वाले, यशस्वी, तथा शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल मुनि, कर्मों का सर्वथा क्षय

करके सिद्धगति को प्राप्त होते हैं अथवा कुछ कर्म-रज बाकी रह जाय, तो वैमानिक देवो मे उत्पन्न होते है ॥६९॥

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना है वैसा ही मैंने तुमसे कहा है ।

—' छठा अध्ययन समाप्त .—

'सुवाक्यशुद्धि' नामक सातवां अध्ययन

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पण्णवं ।
दुण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो ।१।

बुद्धिमान् साधु सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार, इन चार भाषाओ के स्वरूप को भली प्रकार जान कर सत्य और व्यवहार. इन दो भाषाओ का विवेक पूर्वक उपयोग करना सीखे तथा असत्य और मिश्र, इन दो भाषाओ को सर्वथा नही वोले ।

जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहि नाइण्णा, न तं भासिज्ज पण्णवं ।२।

जो भाषा सत्य है, किन्तु अप्रिय और अहितकारी होने से वोलने योग्य नही है तथा जो भाषा सत्यामृषा—मिश्र है और जो भाषा मृषा है, इन भाषाओ को बुद्धिमान् साधु नही वोले,

क्योंकि तीर्थङ्कर भगवान् ने इन भाषाओं को बोलने की आज्ञा नहीं दी है ॥२॥

असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासिज्ज पण्णवं ॥३॥

बुद्धिमान् साधु, निरवद्य-पाप रहित, कर्कशता रहित-मधुर और सन्देह रहित-स्पष्ट, असत्यामृषा-व्यवहार भाषा और सत्य भाषा को अच्छी तरह विचार कर विवेक पूर्वक बोले ॥३॥

एयं च अट्ठमण्णं वा, जं तु नामेइ सासयं ।
स भासं सच्चमोसं पि, तं पि धीरो विवज्जए ॥४॥

सावद्य और कर्कशता युक्त अर्थ को अथवा इसी प्रकार के अर्थ को प्रतिपादन करने वाली तथा जो भाषा शाश्वत सुख की विघातक है अर्थात् जिस भाषा के बोलने से मोक्ष प्राप्ति में बाधा पहुँचती है, चाहे वह सत्यामृषा-मिश्र भाषा हो अथवा सत्य भाषा हो, उसे सत्यव्रत धारी बुद्धिमान् साधु वर्ज दे अर्थात् ऐसी भाषा नही बोले ॥४॥

वितहं पि तहा मुत्तिं, जं गिरं भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुणं जो मुसं वए ॥५॥

जो मनुष्य, बाह्य वेष के अनुसार अर्थात् स्त्री वेषधारी पुरुष को स्त्री और पुरुष वेषधारी स्त्री को पुरुष कहने रू

जिस असत्य भाषा को बोलता है, इससे वह पुरुष पाप से स्पृष्ट होता है अर्थात् पाप का भागी होता है, तो फिर जो व्यक्ति साक्षात् झूठ बोलता है, उसका तो कहना ही क्या ? अर्थात् उसके तो पाप कर्म का बन्ध अवश्य होता है ॥५॥

तम्हा गच्छामो वक्खामो, अमुगं वा णे भविस्सइ ।
अहं वा णं करिस्सामि, एसो वा णं करिस्सइ ।६।
एवमाइ उ जा भासा, एसकालम्मि संकिया ।
संपयाइअमट्ठे वा, तं पि धीरो विवज्जए ॥७॥

कल हम यहाँ से अवश्य चले जावेगे, अमुक बात हम उसको अवश्य कह देंगे, कल हम यहां पर अवश्य व्याख्यान देंगे, हमारा अमुक कार्य अवश्य हो जायगा, मैं अमुक कार्य को अवश्य कर दूगा अथवा वह व्यक्ति उस कार्य को अवश्य कर देगा, इस प्रकार की निश्चयकारिणी भाषा जो कि भविष्यत्काल मे शका युक्त हो अथवा इसी प्रकार की जो भाषा वर्तमान और अतीतकाल के विषय में संशय युक्त हो, उसे बुद्धिमान् साधु वर्जे अर्थात् निश्चयकारी भाषा नहीं बोले ॥६-७॥

अइयम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पण्णमणागए ।
जमट्ठं तु न जाणिज्जा, एवमेयं ति नो वए ॥८॥

भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमानकाल, इन तीनों काल मे जिस पदार्थ को अच्छी तरह नही जाने, उस विषय में यह ऐसा ही है, इस प्रकार साधु, निश्चयात्मक भाषा न बोले ।

अईयम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पण्णमणागए ।
जत्थ संका भवे तं तु, एवमेयं ति नो वए ॥९॥

भूत काल, वर्तमान काल और भविष्य काल, इन तीनो काल मे जिस पदार्थ के विषय मे शका हो, तो उस पदार्थ के विषय मे यह ऐसा ही है, इस प्रकार निश्चयात्मक भाषा साधु, नही बोले ॥९॥

अईयम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पण्णमणागए ।
निस्संकिग्रं भवे जं तु, एवमेयत्ति निद्दिसे ॥१०॥

भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल, इन तीनों काल मे जो पदार्थ शका रहित हो,तो उसके विषय मे यह ऐसा है, इस प्रकार साधु, निरवद्य भाषा बोले ॥१०॥

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो॥११॥

जिस प्रकार शंकित भाषा साधु के लिए वर्जनीय है, उसी प्रकार कठोर भाषा भी साधु के लिए वर्जनीय है, क्योकि वह बहुत प्राणियो के प्राणो का नाश करने वाली होती है, अत. इस प्रकार की भाषा सत्य हो, तो भी साधु को नही बोलनी चाहिए, क्योकि इससे पाप कर्म का बन्ध होता है ॥११॥

तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा ।
वाहियं वावि रोगित्ति, तेणं चोरत्ति नो वए ।१२।

इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक रोगी को रोगी और चोर को चोर नहीं कहे अथवा दूसरे को दुःख पहुँचाने वाली सत्य भाषा भी साधु को नहीं बोलनी चाहिए ॥१२॥

एएण अन्नेण अट्ठेणं, परो जेणुवहम्मइ ।
आयारभावदोसण्णू, न तं भासिज्ज पण्णवं ।१३।

साधु सम्बन्धी आचार भाव में दोषों को जानने वाला विवेकी साधु, उपरोक्त अर्थ को बतलाने वाली अथवा इसी तरह के दूसरे अर्थ को बतलाने वाली भाषा, जिससे दूसरे प्राणी को पीड़ा पहुँचे, ऐसी पराघातकारी भाषा नहीं बोले ॥१३॥

तहेव होले गोलित्ति, साणे वा वसुलित्ति य ।
दमए दुहए वावि, नेवं भासिज्ज पण्णवं ।१४।

इसी प्रकार हे होल-मूर्ख अथवा हालिक! हे गोल-गोला! रे कुत्ते! अरे वसुल-दुराचारिन्! हे द्रमक-कंगाल! रे दुर्भग! इत्यादि कठोर शब्दों का प्रयोग, बुद्धिमान् साधु कदापि नहीं करे ॥१४॥

अज्जिए पज्जिए वावि, अम्मो माउसियत्ति य ।
पिउस्सिए भायणिज्जत्ति, धूए णत्तुणिअत्ति य ।१५।
हले हलित्ति अण्णित्ति, भट्टे सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुलित्ति, इत्थियं नेवमालवे ।१६।

स्त्री के विषय में नही बोलने योग्य वचन के विषय में कहते हैं–हे आर्यिके ! हे दादी अथवा हे नानी ! हे प्रार्यिके ! हे परदादी अथवा हे परनानी ! हे मा ! हे मौसी ! हे भूआ ! हे भानजी ! हे पुत्री ! हे दोहिती या हे पोती ! हे हले ! हे सखी, हे अन्ने ! हे भट्टे ! हे स्वामिनि ! हे गोमिनि–हे ग्वालिन् ! हे होले ! हे गोले–गोली ! हे वसुले–दुराचारिणी ! इस प्रकार के निन्दित सम्बोधनो से सम्बोधित करके साधु, किसी भी स्त्री को नहीं पुकारे ।

णामधिज्जेण णं बूआ, इत्थीगुत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ, आलवीज्ज लविज्ज वा ।१७।

यदि किसी कारण से स्त्री को पुकारना पडे, तो उसका जो प्रसिद्ध नाम हो, उस नाम से, अथवा स्त्री का जो गोत्र हो, उस गोत्र से, सम्बोधित करके पुकारे तथा यथा योग्य गुण अवस्था आदि का निर्देश करके एक बार बोले अथवा आवश्यकतानुसार वारबार बोले ।।१७।।

अज्जए पज्जए वावि, वप्पो चुल्लपिउत्ति य ।
माउला भाइणिज्जत्ति, पुत्ते णत्तुणिअत्ति य ।१८।
हे भो हलित्ति अण्णित्ति, भट्टे सामिअ गोमिअ ।
होल गोल वसुलित्ति, पुरिसं नेवमालवे ।१९।

अब पुरुष के विषय में कहते हैं–हे दादा या हे नाना ! हे परदादा या हे परनाना ! हे पिता ! हे चाचा ! हे मामा ! हे भानजा !

हे पुत्र! हे दोहित्रा या हे पोता! हे नन्दे! हे पशु! हे भट्ट! हे स्वामिन्! हे गोमिन्–हे गाय वाले! हे मूर्ख! हे लम्पट! हे वसुल–हे दुराचारिन्! इत्यादि निन्दित एवं अपमानजनक सम्बोधनों से किसी भी पुरुष को सम्बोधित नहीं करे।१८–१९।

णामधिज्जेण णं बूआ, पुरिसगुत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा।२०।

उस पुरुष का जो प्रसिद्ध नाम हो, उस नाम से, अथवा उस पुरुष का जो गोत्र हो, उस गोत्र से सम्बोधित करके पुकारे, अथवा यथायोग्य गुण अवस्था आदि का निर्देश करके एक बार बोले अथवा आवश्यकतानुसार बार बार बोले ॥२०॥

पंचिंदिआण पाणाणं, एस इत्थी अयं पुमं।
जाव णं न वियाणिज्जा, ताव जाइत्ति आलवे।२१।

पञ्चेन्द्रिय–गाय, बैल, घोड़ा आदि के विषय में जब तक यह गाय, भैंस घोड़ी आदि है, अथवा यह बैल, भैंसा घोडा आदि है, इस प्रकार स्त्रीलिंग, पुल्लिंग आदि का ठीक ठीक रूप से निश्चय न हो जाय, तब तक जाति का निर्देश करके अर्थात् यह गोजाति का है, यह अश्वजाति का है। इस प्रकार साधु बोले।

तहेव माणुसं पसुं, पक्खिं वा वि सरीसवं।
थूले पमेइले वज्झे, पायमित्ति य णो वए।२२।

इसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प आदि को देख कर यह बड़ा मोटा ताजा है, यह बड़ी तोंद वाला है, इसके शरीर में

चर्बी बहुत बढी हुई है, यह शस्त्र द्वारा काटने योग्य है, अथवा अग्नि मे पकाने योग्य है, इस प्रकार का परपीड़ाकारी वचन, साधु को नही बोलना चाहिए ।।

परिवूढत्ति णं बूआ, बूआ उवचियत्ति य ।
संजाए पीणिए वा वि, महाकायत्ति आलवे ।।२३।।

यदि पुरुप के विपय में बोलने की आवश्यकता हो, तो यह सामर्थ्यवान् है, यह सब प्रकार से वृद्ध है, इस प्रकार बोलना चाहिए । अथवा यह स्वस्थ एवं पुष्ट शरीर वाला है, इस प्रकार बोलना चाहिए । अथवा यह पूरा अग उपाग वाला है, यह प्रसन्न है, यह विशाल शरीर वाला है । इस प्रकार साधु बोले ।।२३।।

तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहगत्ति य ।
वाहिमा रहजोगित्ति, नेवं भासिज्ज पण्णवं ।।२४।।

जिस प्रकार मनुष्य आदि के विषय में सावद्य भाषा नहीं बोलनी चाहिये,उसी प्रकार पशुओ के लिए भी सावद्य भाषा नहीं बोलनी चाहिए। यथा—ये गाए दुहने योग्य हैं, अर्थात् इन गायो के दूध निकालने का समय हो गया है तथा ये बछडे अब दमन करने योग्य है अर्थात् नाथने योग्य हैं, अथवा बधिया—खसी करने के लायक है, या हलादि में जोतने योग्य हैं, रथ मे जोतने योग्य हैं, बुद्धिमान् साधु इस प्रकार सावद्य भाषा नही बोले ।

जुवं गवित्ति णं बूआ, धेणुं रसदयत्ति य ।
रहस्से महल्लए वा वि, वए संवहणित्ति य ।।२५।।

गाय बैल आदि के विषय मे यदि बोलने की आवश्य-कता हो, तो यह बैल जवान है, यह गाय दुधारू है, इस प्रकार बोले। यह बछड़ा छोटा है, यह बैल बड़ा है, यह बैल धोरी है अर्थात् उठाये हुए भार को पार पहुँचाने वाला है, इस प्रकार निरवद्य वचन बोल सकता है ॥२५॥

तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि य ।
रुक्खा महल्ल पेहाए, नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥२६॥

अलं पासायखंभाणं, तोरणाण गिहाण य ।
फलिहग्गलनावाणं, अलं उदगदोणिणं ॥२७॥

जिस प्रकार पशु आदि के लिए सावद्य भाषा नही बोलनी चाहिए, उसी प्रकार वृक्ष आदि के विषय मे भी सावद्य भाषा नही बोलनी चाहिए। यथा–उद्यान–बगीचा, पर्वत और वन के अन्दर जाकर, वहा विशाल वृक्षों को देख कर, बुद्धिमान् साधु इस प्रकार नही बोले कि ये वृक्ष महल के खम्भे बनाने के लिए, नगर का दरवाजा बनाने के लिए और लकड़ी का मकान बनाने के लिए तथा परिघ–भोगल, आगल और नौका बनाने के लिए तथा जल-पात्र अथवा छोटी नौका बनाने के लिए योग्य है। इस प्रकार साधु नहीं बोले ॥२६–२७॥

पीढए चंगबेरे य, नंगले मइयं सिया ।
जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिया व अलं सिया ।२८।

आसणं सयणं जाणं, हुज्जा वा किंचुवस्सए ।
भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥२९॥

ये वृक्ष बाजोठ, कठौती, हल और जोते हुए खेत को बराबर करने के लिए फिराये जाने वाले मेड़े के लिए योग्य हैं। ये वृक्ष, कोल्हू आदि यंत्रों की लाट अथवा गाड़ी के पहिये की नाभि, सुनार का एरण रखने का लकड़ी का ढाँचा बनाने के लिए योग्य है। कुर्सी, पाटा आदि बैठने का आसन, सोने के लिए बड़ा पाट या खाट, रथ, पालकी, उपाश्रय के किवाड आदि बनाने के योग्य हैं। इस प्रकार एकेन्द्रियादि प्राणियो की घात करने वाली एवं परपीड़ाकारी भाषा. बुद्धिमान् साधु कदापि नहीं बोले ॥२८-२९॥

तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि य ।
रुक्खा महल्ल पेहाए, एवं भासिज्ज पण्णवं ॥३०॥
जाइमंता इमे रुक्खा, दीहवट्टा महालया ।
पयायसाला विडिमा, वए दरिसणित्ति य ॥३१॥

इसी प्रकार उद्यान, पर्वत, वन आदि मे गया हुआ बुद्धिमान् साधु, बडे बडे वृक्षो को देख कर यदि उनके विषय में बोलने की आवश्यकता हो, तो इस प्रकार निरवद्य वचन कह सकता है कि ये वृक्ष उत्तम जाति के हैं, बहुत लम्बे, गोलाकार, बहुत विस्तार वाले, बडी बडी शाखा और प्रशाखाओ से युक्त हैं, अतएव सुन्दर एवं दर्शनीय हैं ॥३०-३१॥

तहा फलाइं पक्काइं, पायखज्जाइं नो वए।
वेलोइयाइं टालाइं, वेहिमाइत्ति नो वए ॥३२॥

जिस प्रकार वृक्षों के विषय में सावद्य भाषा नहीं बोलनी चाहिए, उसी प्रकार फलों के विषय में भी सावद्य भाषा नहीं बोलनी चाहिए। जैसे कि—ये फल, पक कर भार तैयार हो गये है, पका कर खाने योग्य है, इस प्रकार साधु नहीं बोले। ये फल अधिक पके हुए है, इसलिए, अभी खाने योग्य है। ये फल वहुत कोमल है, इनमें अभी तक गुठली भी नहीं पड़ी है, इसलिए चाकू से काट कर दो टुकड़े करने योग्य है, इस प्रकार नही बोले ॥३२॥

असंथडा इमे अंवा, वहुनिव्वडिमा फला।
वइज्ज वहुसंभूआ, भूअरूवित्ति वा पुणो ॥३३॥

प्रयोजन पड़ने पर साधु, इस प्रकार निरवद्य भाषा बोल सकता है कि ये आम्रवृक्ष, फलो का भार उठाने में असमर्थ है अथवा इन आम्र वृक्षो मे वहुत फल लगे है, जिसके वोझ से झुक कर ये नम्र वन गये है। ये वृक्ष, वहुत से फलों से युक्त हैं अथवा इस वार वहुत अधिक फल लगे हैं अथवा वहुत फल लगने से ये वृक्ष वहुत सुन्दर दिखाउ देते हैं, इस प्रकार निरवद्य वचन कहे ॥३३॥

तहेवोसहिओ पक्काओ, नीलियाओ छवीइ य।
लाइमा भज्जिमाउत्ति, पिहुखज्जत्ति नो वए।३४।

इसी प्रकार ये शालि, गेहू आदि धान्य पक चुके हैं,अतः अब ये काट लेने योग्य हैं तथा ये चवले आदि की फलियाँ नीली एवं कोमल हैं, अतः अग्नि में भूनने योग्य है, होला बना कर अग्नि में सेक कर खाने योग्य हैं, इस प्रकार साधु नही बोले।

रूढा बहुसंभूआ, थिरा ओसढा वि य।
गब्भिआओ पसूआओ, संसाराउत्ति आलवे।३५।

यदि धान्यादि के विषय मे बोलने की आवश्यकता पडे, तो इस प्रकार निरवद्य वचन बोल सकता है–इन शालि, गेहू आदि धान्यो के अकुर निकल आये है, बहुत अकुर फूट निकले हैं, तथा ये पत्तो से युक्त हो गये हैं, स्थिर हो गये हैं, और धान्य बढ़ कर ऊचे आ गये है, अभी तक इनमे सिट्टे नही निकले हैं, अब इनमे प्राय: सिट्टे निकल आये हैं, इन सिट्टों मे दाने पड़ गये है, इस प्रकार निरवद्य वचन बोल सकता है ।।३५।।

तहेव संखडिं नच्चा, किच्चं कज्जं ति नो वए।
तेणगं वावि वज्झित्ति, सुतित्थित्ति य आवगा।३६।

इसी प्रकार गृहस्थ के घर जीमनवार को जान कर, यह कार्य गृहस्थों को करना ही चाहिए, ऐसा नही बोले। चोर को देख कर यह मार देने योग्य है, ऐसा नही बोले। नदियो को देख कर ये भली प्रकार सुखपूर्वक तैरने योग्य हैं अथवा जलक्रीडा करने योग्य है, इस प्रकार साधु नही बोले ।।३६।।

संखडिं संखडिं बूया, पणिअट्ठत्ति तेणगं ।
बहुसमाणि तित्थाणि, आपगाणं वियागरे ।३७।

जीमनवार आदि के विषय मे बोलना पडे, तो जीमन-वार को जीमनवार कहे अर्थात् बहुत जीवो मे [illegible] होने वाला प्रारम्भ समारम्भ कहे। चोर के विषय मे—अपने प्राणो को खतरे मे डाल कर भी धन के लिए चोरी करने वाला है, इस प्रकार कहे, तथा इन नदियों के किनारे बहुत समान है, इस प्रकार निरवद्य भाषा बोले ॥३७।

तहा नईओ पुण्णाओ, कायतिज्जत्ति नो वए ।
नावाहिं तरिमाउ त्ति, पाणिपिज्ज त्ति नो वए ।३८।

इसी प्रकार ये नदिया, जल से पूर्ण भरी हुई है, अतः भुजाओ से तैरने योग्य है, इस प्रकार साधु न बोले। अथवा ये नदिया, नावो से पार करने योग्य है, प्राणी इसके तट पर से ही सुखपूर्वक पानी पी सकते हैं, इस प्रकार भी नही बोले ॥३८॥

बहुवाहडा अगाहा, बहुसलिलुप्पिलोदगा ।
बहुवित्थडोदगा यावि, एवं भासिज्ज पण्णवं ।३९।

यदि इनके विषय मे बोलना पडे, तो इस प्रकार बोले कि ये नदिया जल से लबालब भरी हुई हैं। ये नदियाँ अगाध जल वाली हैं। इन नदियो का जल, तरगों से बहुत उछल रहा है और इन नदियो का जल, बहुत विस्तार पूर्वक बह रहा है। इस प्रकार बुद्धिमान् साधु, निरवद्य भाषा बोले ॥३९॥

तहेव सावज्जं जोगं, परस्सट्ठा य निट्ठियं ।
कीरमाणंति वा णच्चा, सावज्जं न लवे मुणी ।४०।

इसी तरह दूसरे के लिए भूतकाल मे किये गये और वर्तमान काल मे किये जाने वाले अथवा भविष्यकाल मे किये जाने वाले सावद्य–पापयुक्त कार्य को जान कर मुनि, उसके विषय मे यह कार्य अच्छा है,इस प्रकार सावद्य वचन नही बोले ।

सुकडित्ति सुपक्कित्ति, सुछिण्णे सुहडे मडे ।
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥४१॥

यह प्रीतिभोज आदि कार्य अच्छा किया, अथवा यह सभा भवन आदि अच्छा बनवाया । शतपाक, सहस्रपाक आदि तेल अच्छा पकाया । यह भयंकर वन काट दिया सो अच्छा किया । इस कजूस का धन चोर चुरा ले गये सो अच्छा हुआ । वह दुष्ट मर गया सो अच्छा हुआ । इस धनाभिमानी का धन नष्ट हो गया सो अच्छा हुआ । यह कन्या हृष्ट पुष्ट अवयव वाली सुन्दर एव नवयौवना है,अत. विवाह करने योग्य है । इस प्रकार मुनि सावद्य वचन नही बोले, किन्तु इस प्रकार निरवद्य वचन बोले कि इस मुनि ने वृद्ध मुनियो की वैयावच्च एव सेवा शुश्रूषा अच्छी की । इस मुनि ने ब्रह्मचर्य अच्छा पकाया है अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत का अच्छा पालन किया है । अमुक मुनि ने सांसारिक स्नेह बन्धनों को अच्छी तरह काट दिया है । यह मुनि उपसर्ग के समय में भी ध्यान मे खूब दृढ रहा । इस

तत्पश्चात् मुनि ने [illegible] है।
अमुक मुनि की [illegible] हुई। [illegible] हुई
इस अप्रमादी मुनि ने [illegible] । अमुक मुनि
की क्रिया बहुत सुन्दर है। इस प्रकार [illegible] ।

पयत्तपक्कत्ति व पक्कमालवे,
पयत्तछिन्नत्ति व छिन्नमालवे।
पयत्तलट्ठित्ति व कम्महेउयं,
पहारगाढत्ति व गाढमालवे ॥४२॥

यदि कदाचित् पूर्वोक्त अन्न आदि के विषय में बोलने की आवश्यकता हो, तो इस प्रकार बोले—यह अन्न बड़े प्रयत्न से आरम्भ पूर्वक पकाया गया है, इस प्रकार बोले। कटे हुए वनादि के विषय में यह वन बड़े प्रयत्न से आरम्भ पूर्वक काटा गया है, इस प्रकार बोले। कन्या के विषय में यह कन्या सभाल पूर्वक लालन पालन की हुई है, यदि यह कन्या दीक्षा ले, तो संयम की क्रियाओं का सुन्दर रीति से पालन कर सकती है, इस प्रकार बोले। शृंगारादि क्रियाओं के विषय में ऐसा कहे कि ये शृंगारादि क्रियाएँ कर्मबन्ध का कारण हैं, इस प्रकार कहे। घाव के विषय में—यह घाव बहुत गहरा है, इस प्रकार निरवद्य वचन बोले ॥४२॥

सव्वुक्कसं परग्घं वा, अउलं नत्थि एरिसं।
अविक्कियमवत्तव्वं, अचियत्तं चेव नो वए ॥४३॥

किसी गृहस्थ के साथ व्यवहार सम्बन्धी वार्तालाप करने का प्रसग आजाय, तो साधु इस प्रकार न कहे कि यह वस्तु सब से उत्कृष्ट है, अथवा यह बहुत ऊँची कीमत की है, यह अनुपम है, इसके समान दूसरी कोई वस्तु नही है। यह वस्तु अभी बेचने योग्य नही है, इसमे इतने गुण हैं कि वे कहे नही जा सकते हैं। यह वस्तु बहुत गन्दी है। इस प्रकार साधु नही कहे ॥४३॥

सव्वमेयं वइस्सामि, सव्वमेयं त्ति नो वए ।
अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ, एवं भासिज्ज पण्णवं॥४४॥

तुम्हारा कहा हुआ सब सन्देश मैं उसे ज्यो का त्यो कह दूगा तथा उसका सारा कथन बिलकुल ऐसा ही है। इस प्रकार विवेकी साधु नही बोले, किन्तु सब जगह सब बात बहुत सोच विचार कर जिस तरह मृषावाद का दोष नही लगे, उस तरह से बोले ॥४४॥

सुक्कीयं वा सुविक्कीयं, अकिज्जं किज्जमेव वा ।
इमं गिण्ह इमं मुंच, पणीयं नो वियागरे ॥४५॥

साधु,इस प्रकार की भाषा नही बोले कि तुमने अमुक माल खरीद लिया सो अच्छा किया, तुमने अमुक माल बेच दिया सो ठीक किया। यह वस्तु खरीदने योग्य है। इस समय यह वस्तु खरीद लो. क्योकि इसमे लाभ होगा। इस समय इस माल को बेच डालो, क्योकि आगे जाकर इसमे नुकसान होगा। इस

प्रकार की भाषा साधु नही बोले ॥४५॥

अप्पग्घे वा महग्घे वा, कए वा विक्कए वि वा ।
पणियट्ठे समुप्पण्णे, अणवज्जं वियागरे ॥४६॥

अल्प मूल्य वाले अथवा बहुमूल्य वाले पदार्थ को खरीदने के विषय में अथवा बेचने के विषय मे व्यापार सम्बन्धी प्रसग उपस्थित हो जाने पर अथवा गृहस्थ के पूछने पर साधु, निरवद्य वचन बोले अर्थात् ऐसा कहे कि हम साधुओ को इस विषय में बोलने का कोई प्रयोजन नही है, और न अधिकार ही है ।

तहेवासंजयं धीरो, आस एहि करेहि वा ।
सयं चिट्ठ वयाहीत्ति, नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥४७॥

इसी प्रकार धैर्यशाली बुद्धिमान् साधु, गृहस्थ को ऐसा नही कहे कि यहा बैठो, इधर आओ, यह कार्य करो, यहां सो जाओ, यहाँ खड़े रहो, यहा से चले जाओ । इस प्रकार साधु नही बोले ॥४७॥

बहवे इमे असाहू, लोए वुच्चंति साहुणो ।
न लवे आसाहुं साहुत्ति, साहुं साहुत्ति आलवे ।४८।

लोक मे बहुतसे असाधु भी साधु कहे जाते हैं, किन्तु बुद्धिमान् साधु, असाधु को साधु नही कहे, किन्तु साधु को ही साधु कहे ॥४८॥

नाणदंसणसंपन्नं, संजमे य तवे रयं ।
एवं गुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे ॥४९॥

सम्यग् ज्ञान, सम्यग्दर्शन से युक्त, सयम और तप मे अनुरक्त, इस प्रकार के गुणो से युक्त सयमी को ही साधु कहे ॥४९॥

देवाणं मणुयाणं च, तिरियाणं च वुग्गहे ।
अमुयाणं जओ होउ, मा वा होउत्ति नो वए ५०॥

देवों के पारस्परिक युद्ध मे और मनुष्यो के पारस्परिक युद्ध मे तथा तिर्यञ्चो के पारस्परिक युद्ध मे अमुक पक्ष की जीत हो और अमुक पक्ष की जीत न हो, इस प्रकार साधु नही बोले ॥५०॥

वाओ वुट्ठं च सीउण्हं, खेमं धायं सिवं ति वा ।
कयाणु हुज्ज एयाणि, मा वा होउत्ति नो वए ५१॥

शीत तापादि से पीडित होकर साधु वायु, वृष्टि, ठण्ड, गर्मी, रोगादि की शान्ति, सुभिक्ष—धान्य की अच्छी फसल, शिव—उपसर्ग की शान्ति, ये सब कब होगे ? अथवा ये सब बातें नही हो, इस प्रकार साधु नही कहे ॥५१॥

तहेव मेहं व नहं व माणवं,
न देव देवत्ति गिरं वइज्जा ।
समुच्छिए उन्नए वा पओए,
वइज्ज वा वुट्ठ बलाहइत्ति ॥५२॥

अंतलिक्खत्ति णं बूया, गुज्झाणुचरिअत्ति य ।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स, रिद्धिमंतंत्ति आलवे ॥५३॥

इसी प्रकार मेघ को, आकाश को और राजा आदि को देख कर 'यह देव है, यह देव है,' इस प्रकार का वचन साधु न बोले, किन्तु यदि बोलने का कोई प्रयोजन हो, तो मेघ के प्रति ऐसा कहे कि "यह मेघ चढ़ रहा है, यह मेघ उन्नत है, यह मेघ जल से भरा हुआ है, यह मेघ बरस चुका है"। इस प्रकार अदूषित वचन कहे। आकाश के प्रति ऐसा कहे कि "यह अन्तरिक्ष है, देवो के आने जाने का मार्ग है'। किसी सम्पत्तिशाली मनुष्य को देख कर "यह सम्पत्तिशाली है"। इस प्रकार साधु, अदूषित वचन कहे ॥५२-५३॥

तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वइज्जा ॥५४॥

इसी प्रकार जो भाषा सावद्य—पाप कर्म का अनुमोदन करने वाली हो, निश्चयकारी हो, प्राणियो का उपघात करने वाली एवं प्राणियो को पीड़ा पहुचाने वाली हो, ऐसी भाषा क्रोध, लोभ, भय और हास्य के वश होकर, हंसी मजाक मे भी न बोले ॥५४॥

सुवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥५५॥

जो मुनि, भाषा की शुद्धि को अर्थात् भाषा समिति को भली भाति समझ कर, मृषावादादि दोष युक्त भाषा को सदा छोड देता है और अच्छी तरह सोच विचार कर परिमित और निरवद्य वचन बोलता है, वह साध सत्पुरुषो के वीच मे प्रशसा प्राप्त करता है ॥५५॥

भासाइ दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥५६॥

छह काय जीवो की रक्षा करने वाला, चारित्र धर्म में सदा उद्यम करने वाला बुद्धिमान् साधु, भाषा के दोषो को और गुणो को जान कर भाषा के दोषो को सदा त्याग दे और सब प्राणियो के हितकारी, मनोहर एव अनुकूल वचन बोले ॥५६॥

परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए,
चउक्कसायावगए अणिस्सिए,
स निद्धुणे धुण्णमलं पुरेकड,
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥ त्ति बेमि ॥५७॥

भाषा के गुण दोषो का विचार करके बोलने वाला, सब इंद्रियो को वश मे रखने वाला, क्रोधादि चार कपायो से रहित, सासारिक प्रतिबन्धों से मुक्त, भाषा समिति का आरा-धक मुनि, पूर्वोपार्जित कर्म रूपी मैल को दूर हटा कर इस लो

और परलोक दोनों लोकों की सम्यक् आराधना कर लेता है अर्थात् सिद्धिगति को प्राप्त कर लेता है ॥५७॥

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना है, वैसा ही मैंने तुमसे कहा है।

॥ सातवां अध्ययन समाप्त ॥

आचारप्रणिधि नामक आठवां अध्ययन

आयारप्पणिहिं लद्धुं, जहा कायव्व भिक्खुणा ।
तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्वि सुणेह मे ॥१॥

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् शिष्य ! सदाचार के भण्डार स्वरूप साधुपने को प्राप्त करके साधु को जिस प्रकार आचरण करना चाहिए उसकी विधि मैं तुम से कहूँगा, सो तुम सावधान होकर अनुक्रम से सुनो ॥१॥

पुढविदगअगणिमारुअ, तणरुक्खा सबीयगा ।
तसा य पाणा जीवत्ति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥२॥

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, तृण, वृक्ष और बीज रूप वनस्पतिकाय और त्रस प्राणी–ये सब जीव है. इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है ॥२॥

तेसिं अच्छणजोएण, णिच्चं होयव्वयं सिया
मणसा कायवक्केणं, एवं हवइ संजए ॥३॥

मुनि को मन वचन काया से सदा पूर्वोक्त छह काय जीवो के साथ अहिंसा का वर्त्ताव करना चाहिए, ऐसा करने से ही वह संयमी होता है ॥३॥

पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेंव भिंदे न संलिहे।
तिविहेण करणजोएण, संजए सुसमाहिए ॥४॥

चारित्र की साधना मे सावधान समाधिवन्त साधु, सचित्त पृथ्वी को, भित्ति अर्थात् नदी आदि के तट को, शिला को, मिट्टी के ढेले को, तीन करण तीन योग से अर्थात् मन वचन काया द्वारा करना, कराना, अनुमोदना रूप से न तो भेदे–टुकडा करे और न घिसे अर्थात् उस पर लकीर आदि न खीचे ॥४॥

सुद्धपुढवीं न निसीए, ससरक्खम्मि य आसणे।
पमज्जित्तु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥५॥

शुद्ध पृथ्वी अर्थात् शस्त्र से अपरिणत सचित्त पृथ्वी पर और सचित्त रज से भरे हुए आसनादि पर मुनि नंही बैठे, किन्तु अचित्त भूमि हो, तो उसके स्वामी की आज्ञा लेकर रजोहरण से पूंज कर फिर बैठे ॥५॥

सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि य।
उसिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए ॥६॥

पृथ्वी काय के जीवों की यतना को कह कर अब अप्काय के जीवो की यतना कही जाती है। साधु नदी, कुए, तालाब आदि का सचित्त जल, ओले-गड़े, बरसात का जल और वर्फ, इन सब का सेवन नही करे, किंतु जो तपा कर प्रासुक हुआ है ऐसे गरम पानी को एव प्रासुक धोवन पानी को ही ग्रहण करे ॥६॥

उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे।
समुप्पेह तहाभूयं, नो णं संघट्टए मुणी ॥७॥

किसी आवश्यक कार्य के लिए बाहर गये हुए मुनि का अपना शरीर यदि कदाचित् वरसात पड़ने से या नदी पार करने से भीग गया हो, तो अप्काय के जीवों की रक्षा के लिए मुनि अपने शरीर को न तो वस्त्रादि से पोछे और न अपने हाथो से देह को मले, किन्तु अपने शरीर को जल से भीगा हुआ देख कर मुनि अपने शरीर का संघट्टा-स्पर्श भी नही करे ॥७॥

इंगालं अगणिं अच्चि, अलायं वा सजोइयं।
न उंजिज्जा न घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥८॥

अब अग्निकाय की यतना को कहते हैं। मुनि अगारे को, अग्नि को, ज्वाला सहित अग्नि को, अग्नि सहित अवजले

काठ को अधिक नही जलावे, संघट्टा नही करे और उस अगा-
रादि को पानी आदि से नही बुझावे ॥८॥

तालियंटेण पत्तेण, साहाए विहुयणेण वा ।
न वीइज्जऽप्पणो कायं, बाहिरं वावि पुग्गलं ॥९॥

अब वायुकाय के जीवों की यतना को कहते हैं। ताड-
वृक्ष के पंखे से, पत्तो से, वृक्ष की शाखा से, साधारण पखे से
और वस्त्रादि से मुनि अपने शरीर पर हवा नही करे और इसी
प्रकार बाहरी पदार्थों को अर्थात् गरम दूध पानी आदि को
ठण्डा करने के लिए हवा नही करे । ९॥

तणरुक्खं न छिंदिज्जा, फलं मूलं च कस्सई ।
आमगं विविहं बीयं, मणसा वि न पत्थए ॥१०॥

अब वनस्पतिकाय के जीवों की यतना को कहते हैं।
साधु तृण, घास, वृक्षादि को तथा किसी वृक्ष के फल को और
जड़ आदि को नही काटे तथा नाना प्रकार के सचित्त बीजों
को सेवन करने की मन से भी इच्छा नही करे ॥१०॥

गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिएसु वा ।
उदगम्मि तहा निच्चं, उत्तिगपणगेसु वा ॥११॥

गहन अर्थात् लताकुञ्जो में एवं गहन वन मे, बीजों
पर, दूब आदि हरित काय पर तथा उदक नाम की वनस्पति
पर अथवा जहाँ जल फैला हुआ हो ऐसी जगह पर तथा सर्प-
च्छत्रा–सर्प के छत्र के आकार वाली वनस्पति पर तथा पनक

उलि नामक वनस्पति पर एव लीलन फूलन पर साधु,कभी भी खड़ा नही रहे तथा नही बैठे और नही सोवे ॥११॥

तसे पाणे न हिंसिज्जा, वाया अदुव कम्मुणा ।
उवरओ सव्वभूएसु, पासेज्ज विविहं जगं ॥१२॥

अब त्रसकाय के जीवों की यतना को कहते हैं। बेइन्द्रिय आदि त्रस जीवो की मन वचन काया से हिसा नही करे, किन्तु प्राणी मात्र पर समभाव रखता हुआ नाना प्रकार के त्रस स्थावर रूप संसार को ज्ञानदृष्टि से देखे अर्थात् ऐसा विचार करे कि नरक तिर्यञ्चादि गतियो में जीव, अपने कर्मो के वश होकर नाना दुःख पा रहे हैं ॥१२॥

अट्ठ सुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए ।
दयाहिगारी भुएसु, आस चिट्ठ सएहि वा ॥१३॥

अब सूक्ष्म जीव सम्बन्धी यतना को कहते हैं। जिनका स्वरूप आगे कहा जायगा ऐसे आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवो को अच्छी तरह देख कर मुनि, उपयोग से खडा रहे, बैठे या सोवे। जिन आठ सूक्ष्मो को ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा से जान कर साधु,सब जीवों मे दया का अधिकारी होता है। १३॥

कयराइं अट्ठ सुहुमाइं, जाइं पुच्छिज्ज संजए ।
इमाइं ताइं मेहावी, आइक्खिज्ज वियक्खणो ॥१४॥

सयती शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! जिन

आठ सूक्ष्म जीवों को जानने से मुनि दया का अधिकारी होता है, वे आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव कौन-से हैं ? बुद्धिमान् विचक्षण गुरु फरमाते है कि वे सूक्ष्म जीव ये है ।।१४।।

सिणेहं पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिगं तहेव य ।
पणगं बीयहरियं च, अंडसुहुमं च अट्ठमं ।।१५।।

१ स्नेह सूक्ष्म, जैसे—ओस, हिम, महिका, गडे, हरतनु ये सब आकाश से गिरे हुए पानी के भेद है, जिन की व्याख्या चौथे अध्ययन में की जा चुकी है । २ पुष्पसूक्ष्म—जैसे बड, उदुम्बर आदि के फूल । ३ प्राणिसूक्ष्म, जैसे—कुन्थु आदि जो कि चलने पर ही जाने जाते हैं, ठहरे हुए नही जाने जाते हैं । ४ उत्तिग सूक्ष्म—जैसे कीडी नगरा—कीडियो का समूह । ५ पनक सूक्ष्म—चौमासे मे भूमि और लकडी आदि पर होने वाली पाँच वर्ण की लीलन फूलन । ६ बीज सूक्ष्म—शाली आदि बीज का अग्रभाग—जिसमे से अकुर उत्पन्न होता है । ७ हरितसूक्ष्म—नवीन उत्पन्न हुई हरितकाय जो उगने के समय पृथ्वी के समान वर्ण की ही दिखती है । ८ अण्ड सूक्ष्म—कीड़ी मक्खी आदि जीवों के बारीक अण्डे, जो कि कठिनाई से दिखाई देते हैं । ये आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव हैं ।।१५।।

एवमेयाणि जाणित्ता, सव्वभावेण संजए ।
अप्पमत्तो जए णिच्चं, सव्विदियसमाहिए ।।१६।।

सयती साधु, इस प्रकार पूर्वोक्त आठ प्रकार के सूक्ष्म

जीवो को अच्छी तरह से जान कर सब इन्द्रियों का दमन करता हुआ प्रमाद रहित होकर सदा तीन करण तीन योग से इनकी यतना–रक्षा करने मे सावधान रहे ॥१६॥

धुवं च पडिलेहिज्जा, जोगसा पायकंबलं ।
सिज्जमुच्चारभूमिं च, संथारं अदुवासणं ॥१७॥

साधु, पात्र, कम्बल, शय्या, उच्चार भूमि–मलादि त्यागने का स्थान, सथारा–बिछौना, पीठ फलकादि आसन, इन सब की नित्य नियमपूर्वक यथासमय एकाग्रचित्त से प्रतिलेखना करे ॥१७॥

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाण जल्लियं ।
फासुयं पडिलेहित्ता, परिट्ठाविज्ज संजए ॥१८॥

साधु, प्रासुक–जीव रहित स्थान की प्रतिलेखना करके वहाँ उच्चार–विष्ठा, प्रस्रवण–मूत्र, कफ, नाक का मैल और शरीर का मैल आदि को यतनापूर्वक परठावे ॥१८॥

पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोयणस्स वा ।
जयं चिट्ठे मियं भासे, न य रूवेसु मणं करे ॥१९॥

साधु, पानी के लिए अथवा आहार के लिए गृहस्थों के घर मे प्रवेश करके यतनापूर्वक खड़ा रहे, तथा आवश्यकतानुसार परिमित वचन बोले तथा वहाँ स्त्री आदि के रूप सौन्दर्य को तथा अन्य सुन्दर पदार्थों को देख कर अपने मन को चंचल नही होने दे ॥१९॥

बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सुव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥२०

साधु, कानो से बहुत कुछ भली बुरी बाते सुनता है, त
आँखों से बहुत कुछ भले बुरे पदार्थों को देखता है, किन्तु दे
हुई और सुनी हुई सभी बाते किसी से कहना साधु को उचि
नहीं है ॥२०॥

सुयं वा जइ वा दिट्ठं, न लविज्जोवघाइयं।
न य केण उवाएणं, गिहिजोगं समायरे ॥२१॥

सूनी हुई अथवा देखी हुई बात किसी भी प्राणी को द्रव्य भाव से पीडा पहुँचाने वाली हो, तो साधु उसे न कहे और किसी भी कारण से गृहस्थ का कार्य अर्थात् उसके बच्चो को खेलाना आदि कार्य कदापि नही करे ॥२१॥

निट्ठाणं रसनिज्जूढं, भद्दगं पावगं ति वा।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा, लाभालाभं न निद्दिसे ॥२२॥

किसी के पूछने पर अथवा बिना पूछे साधु, सरस आहार मिला हो, तो उसे यह आहार तो अच्छा है, इस प्रकार नही कहे अथवा नीरस आहार मिला हो, तो उसे यह आहार तो बुरा है, इस प्रकार नही कहे। और इसी तरह आज तो आहार खूब मिला है अथवा आज आहार नही मिला है, इस प्रकार आहार के लाभ और अलाभ के विषय मे भी साधु कुछ नही कहे ॥२२॥

न य भोयणम्मि गिद्धो, चरे उंछं अयंपिरो ।
अफासुयं न भुंजिज्जा, कीयमुद्देसियाहडं ॥२३॥

भोजन मे गृद्ध होकर साधु, केवल धनवान् गृहस्थो के घर ही गोचरी के लिए नही जावे, किन्तु ज्ञात अज्ञात कुल मे एवं गरीब और अमीर दोनो प्रकार के दाताओं के घर में गोचरी के लिए जावे और दाता का अवगुणवाद नही बोलता हुआ जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहे। सचित्त, मिश्र आदि अप्रासुक, क्रीत–साधु के लिए खरीदा हुआ, औद्देशिक–साधु के निमित्त बनाया हुआ, आहृत–साधु के लिए सामने लाया हुआ आहारादि ग्रहण नही करे, किन्तु यदि कदाचित् भूल से ग्रहण कर लिया गया हो, तो उसे नही भोगवे ॥२३॥

संनिहिं च न कुव्विज्जा, अणुमायं पि संजए ।
मुहाजीवी असंबद्धे, हविज्ज जगनिस्सिए ॥२४॥

साधु, घी, गुड आदि पदार्थों का अणुमात्र–जरा सा भी सचय नही करे। नि:स्वार्थ भाव से एव सावद्य व्यापार के विना भिक्षा लेकर संयमी जीवन व्यतीत करे और गृहस्थो के प्रतिवन्ध से मुक्त रहकर छहकाय जीवों का रक्षक वने ॥२४॥

लुहवित्ती सुसंतुट्ठे, अप्पिच्छे सुहरे सिया ।
आसुरत्तं न गच्छिज्जा, सुच्चा णं जिणसासणं ।२५।

साधु, रुक्षभोजी वने अर्थात् रूखा सूखा खाकर संयम निर्वाह करने वाला होवे। सुसंतुष्ट हो अर्थात् जैसा भी रूखा

सूखा आहार मिले उसी मे सन्तुष्ट रहने वाला होवे। अल्प इच्छा वाला होवे और किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचा कर अल्प आहार से ही सन्तोष करने वाला अर्थात् ऊनोदरी आदि तप करने वाला होवे और क्रोधादि के कटु परिणामों को बतलाने वाले जिनशासन को अर्थात् वीतराग के वचनो को सुन कर किसी के प्रति क्रोध नही करे ॥२५॥

कण्णसुक्खेहिं सद्देहिं, पेम्मं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहियासए ॥२६॥

साधु, कानो को प्रिय लगने वाले शब्दो मे राग भाव नही करे और इसी प्रकार दुःख जनक एवं कठोर स्पर्श को शरीर से सहन करे, किन्तु द्वेष नही करे। अर्थात् मनोज्ञ शब्दादि विषयो मे साधु को रागभाव नही करना चाहिए और अमनोज्ञ शब्दादि विषयो मे द्वेष नही करना चाहिए ॥२६॥

खुहं पिवासं दुस्सिज्जं, सीउण्हं अरइं भयं।
अहियासे अव्वहिओ, देहदुक्खं महाफलं ॥२७॥

साधु, भूख, प्यास, विषम भूमि वाला निवास स्थान, सर्दी, गर्मी, अरति और भय अर्थात् चोर व्याघ्रादि का भय, इन सब परीषहो को अदीन भाव से सहन करे, क्योकि शारीरिक कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करना महालाभ का कारण है अर्थात् मोक्ष रूपी महाफल देने वाला है ॥२७॥

अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥२८॥

सूर्य के अस्त हो जाने पर और प्रात काल सूर्य के उदय न होने तक सब प्रकार के आहारादि की साधु, मन से भी इच्छा नही करे, तो फिर वचन और काया की तो बात ही क्या है ? अर्थात् मन वचन काया से रात्रि भोजन की इच्छा नही करे ॥२८॥

अंतितिणे अचवले, अप्पभासी मियासणे ।
हविज्ज उअरे दंते, थोवं लद्धुं न खिसए ॥२९॥

तिनतिनाहट नही करता हुआ अर्थात् आहारादि के नही देने पर भी गृहस्थ का अवर्णवाद नही बोलने वाला, चपलता रहित, अल्पभाषी, अल्पाहारी–परिमित आहार करने वाला, उदर का दमन करने वाला अर्थात् भूख प्यास आदि परीषहो को समभाव पूर्वक सहन करने वाला होवे तथा थोड़ा आहार मिलने पर खीझे नही अर्थात् उस दाता की अथवा उस पदार्थ की निंदा नही करे ॥२९॥

न वाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे ।
सुयलाभे न मज्जिज्जा, जच्चा तवस्सिवुद्धिए ।३०।

साधु, किसी भी व्यक्ति का अपमान एवं तिरस्कार नही करे और आत्म प्रशंसा–अपनी प्रशंसा भी नही करे । श्रुतज्ञान की प्राप्ति होने पर श्रुतज्ञान का गर्व नही करे । इसी प्रकार जाति का, तप का और बुद्धि का मद नही करे अर्थात् कुल, वल, रूप, ऐश्वर्य आदि किसी का मद नही करे ॥३०॥

से जाणमजाणं वा, कट्टु आहम्मियं पयं ।
संवरे खिप्पमप्पाणं, बीयं तं न समायरे ॥३१॥

जानते हुए अथवा न जानते हुए अजानपने से प्रमाद-वश यदि कदाचित् कोई अधार्मिक कार्य अर्थात् मूलगुण अथवा उत्तर गुण की विराधना हो जाय, तो निर्ग्रन्थाचार का पालन करने वाला मुनि, इसे छिपाने की चेष्टा नही करे, किन्तु शीघ्र तत्काल प्रायश्चित्त द्वारा उस पाप को दूर करके अपनी आत्मा को निर्मल बना ले और फिर दुबारा वैसा पाप कार्य—वैसी भूल नही होने पावे, इस बात के लिए सावधान रहे ॥३१॥

अणायारं परक्कम्म, नेव गूहे न णिण्हवे ।
सुई सया वियडभावे, असंसत्ते जिइंदिए ॥३२॥

निर्मल बुद्धि वाले, सरल चित्त वाले, विषयो की आसक्ति रहित और सदा इन्द्रियो को वश मे रखने वाले मुनि को अनाचार का कदापि सेवन नही करना चाहिए। कदाचित् प्रमादवश अनाचार का सेवन हो गया हो, तो गुरु महाराज के पास उसकी आलोचना कर उसका प्रायश्चित्त ले। आलोचना करते समय अधूरी बात कह कर उसे छिपाने की कोशिश नहीं करे और न असली बात को छिपाने के लिए मायाचार का सेवन करे, किन्तु जो बात जिस तरह से हुई हो उसको उसी रूप मे ज्यो की त्यो कह दे ॥३२॥

अमोहं वयणं कुज्जा, आयरियस्स महप्पणो ।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥३३॥

ज्ञानादि गुणों के धारक महात्मा, आचार्य महाराज के वचन को–आज्ञा को सफल करे अर्थात् आचार्य महाराज की आज्ञा को 'तहत्ति'–आपकी आज्ञा शिरोधार्य है–इत्यादि आदर सूचक शब्दों से स्वीकार करे। केवल वचनों द्वारा स्वीकार करके ही न रह जाय, अपितु उस आज्ञा को कार्य द्वारा आचरण में लावे ॥३३॥

अधुवं जीवियं णच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमियमप्पणो ॥३४॥

इस जीवन को अध्रुव–अस्थिर एवं क्षणभंगुर जान कर तथा अपने आयुष्य को परिमित–थोड़ी जान कर अर्थात् 'नही जाने एक क्षण मे क्या हो जायगा' ऐसा जान कर तथा सम्यग्-ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्षमार्ग को कल्याणकारी समझ कर साधु, कामभोगों से सर्वथा निवृत्त हो जाय ॥३४॥

बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो।
खित्तं कालं च विण्णाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥३५॥

अपने मानसिक बल को तथा शारीरिक बल को और श्रद्धा की दृढता को तथा आरोग्य–तन्दुरुस्ती को देख कर तथा द्रव्य क्षेत्र काल भाव को जान कर जैसा अपना बलादि एवं अवसर देखे उसी प्रकार अपनी आत्मा को तपश्चर्यादि धर्म कार्य में लगावे, किन्तु प्रमाद नही करे ॥३५॥

जरा जाव न पीलेई, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥३६॥

महापुरुष फरमाते है कि हे आर्यो ! जबतक बुढापा- जरा रूपी राक्षसी पीड़ित नही करती अर्थात् तुम्हारे शरी को जर्जरित नही बना डालती, जबतक व्याधि–नाना प्रकार के रोग तुम्हारे शरीर को घेर नही लेते और जबतक श्रोत्र नेत्र आदि इन्द्रियाँ शक्ति हीन होकर शिथिल नही हो जाती, तब तक इससे पहले श्रुत चारित्र रूप धर्म का आचरण कर लेना चाहिए। अर्थात् जबतक धर्म का साधनभूत यह शरी स्वस्थ एवं सुदृढ बना हुआ है, तबतक धार्मिक क्रियाओ का खूब आचरण कर लेना चाहिए, क्योकि उपरोक्त अंगो मे से किसी भी अग की शक्ति क्षीण हो जाने पर फिर यथावत् धर्म का आचरण नही हो सकता है ॥३६॥

कोहं माणं च मायंच, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो ॥३७॥

अपनी आत्मा का हित चाहने वाले साधु को पाप को बढाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार दोषों का– कषायों का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए ॥३७॥

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३८॥

क्रोध, प्रीति का नाश कर देता है। मान–अहकार भाव, विनय का नाश कर देता है। माया–कपटाई, मित्रता का नाश कर देती है और लोभ, सभी सद्गुणों का नाश कर देता है।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चज्जभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥३९॥

क्रोध को क्षमा रूपी खड्ग से नष्ट करे। मान को मृदुता–कोमल भाव से जीते। माया को सरलता से जीते और लोभ को संतोष से जीते ॥३९॥

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥४०॥

क्रोध और मान ये दोनों क्षमा और विनय से शात न किये गये हो,तथा माया और लोभ ये दोनो सरलता और सतोष रूपी सद्गुणों को धारण नही करने से बढ़ रहे हो, तो आत्मा को मलीन बनाने वाले ये चारों कषाय, पुनर्जन्म रूपी विषवृक्ष की जडों को सीचते हैं अर्थात् ये चारो कषाय, जन्म मरण रूपी ससार को बढाते है ॥४०॥

रायणिएसु विणयं पउंजे,
धुवसीलयं सययं न हावइज्जा ।
कुम्मुव्व अल्लीणपलीणगुत्तो,
परक्कमिज्जा तवसंजमम्मि ॥४१॥

रत्नाधिक अर्थात् दीक्षा मे अपने से वड़े चारित्र-वृद्ध और ज्ञान वृद्ध गुरुजनों का विनय करे। अपने उच्च चारित्र

का अर्थात् अठारह हजार शीलांग का कदापि त्याग नही करे और कछुए की भांति अपने समस्त अंगोपागो को वश में रखता हुआ साधु, तप संयम मे उत्साह पूर्वक प्रवृत्ति करे ॥४१॥

निद्दं च न बहु मण्णिज्जा, सप्पहासं विवज्जए।
मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया ॥४२॥

साधु, निद्रा का वहुत आदर नही करे अर्थात् अधिक नहीं सोवे और अधिक हसी मजाक भी नही करे। किसी की गुप्त वातों को सुनने मे तथा स्त्री कथा आदि में आसक्त नहीं होवे, किन्तु सदा वाचना, पृच्छना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा रूप स्वाध्याय मे तल्लीन रहे ॥४२॥

जोगं च समणधम्मम्मि, जुंजे अणलसो धुवं।
जुत्तो य समणधम्मम्मि, अट्ठं लहइ अणुत्तरं ॥४३॥

आलस्य का सर्वथा त्याग करके मन, वचन और काया रूप तीन योगो को और कृत, कारित, अनुमोदन रूपी तीन करण को श्रमण धर्म मे अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, सयम, सत्य, शौच, अकिञ्चनत्व और ब्रह्मचर्य रूप दस श्रमण धर्म में निरन्तर लगावे, क्योकि श्रमण धर्म मे लगा हुआ मुनि, सर्वोत्कृष्ट अर्थ को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥४३॥

इहलोगपारत्तहियं, जेणं गच्छइ सुग्गइं।
बहुस्सुयं पज्जुवासिज्जा, पुच्छिज्जत्थविणिच्छयं ।४४।

जिससे इस लोक मे और परलोक मे हित होता है

तथा सुगति की प्राप्ति होती है ऐसे ज्ञान को प्राप्त करने के लिए साधु, आगमों के मर्म को जानने वाले बहुश्रुत मुनि की पर्युपासना—सेवा शुश्रूषा करे और सेवा शुश्रूषा करता हुआ प्रश्न पूछ कर पदार्थों का यथार्थ निश्चय करे ।।४४।।

हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए ।
अल्लीणगुत्तो निसिए, सगासे गुरुणो मुणी ।।४५।।

जितेन्द्रिय मुनि, हाथ, पैर तथा शरीर को जिस प्रकार से गुरु महाराज का अविनय नही हो, उस तरह से सकोच करे तथा मन, वचन, काया से सावधान होकर गुरु महाराज के पास बैठे ।।४५।।

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ ।
न य ऊरुं समासिज्जा, चिट्ठिज्जा गुरुणंतिए ।४६।

आचार्य महाराज के पसवाड़े की तरफ अर्थात् शरीर से शरीर लगा कर नही बैठे, और न एक दम मुख के नजदीक बैठे तथा पीठ पीछे भी नही बैठे और गुरु महाराज के सामने पैर पर पैर रख कर नही बैठे अर्थात् अविनय सूचक आसनो से न बैठे ।।४६।।

अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अंतरा ।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, मायामोसं विवज्जए ।।४७।।

विनीत शिष्य, गुरु महाराज के पूछे बिना नहीं बोले। इसी प्रकार जब गुरुमहाराज, किसी से बातचीत कर रहे हों,

तब बीच बीच में नही बोले। किसी की पीठ पीछे निन्दा नही करे और कपट सहित झूठ भी नही बोले ।।४७।।

अप्पत्तियं जेण सिया, आसु कुप्पिज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहियगामिणिं ।४८।

जिस भाषा के बोलने से अप्रीति—द्वेष अथवा अविश्वास पैदा होता हो अथवा जिससे दूसरा व्यक्ति शीघ्र कुपित हो जाता हो, तो उस प्रकार की अहित करने वाली भाषा साधु कभी नही बोले ।।४८।।

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियं जियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ।।४९।।

आत्मार्थी साधु, साक्षात् देखी हुई, परिमित, सन्देह रहित, पूर्वापर सम्बन्ध युक्त, स्पष्ट अर्थ वाली, चालू विषय का प्रतिपादन करने वाली, मध्यस्थ भाव से युक्त और किसी को उद्वेग—पीड़ा नही पहुँचाने वाली भाषा बोले ।।४९।।

आयारपण्णत्तिधरं, दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वायविक्खलियं णच्चा, न तं उवहसे मुणी ।।५०।।

आचारांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि के ज्ञाता अथवा आचारप्रज्ञप्तिधर—स्त्रीलिंग पुल्लिंग आदि के विशेषणो को अच्छी तरह जानने वाला, दृष्टिवाद का अध्ययन करने वाला, अथवा व्याकरण के सभी नियमो को जानने वाला मुनि भी यदि कदाचित् बोलते समय वचन से स्खलित हो जाय अर्थात् लिंग

आदि की दृष्टि से अशुद्ध शब्द का प्रयोग कर दे, तो उनके अशुद्ध वचन को जान कर साधु, उनकी हँसी नहीं करे ॥५०॥

नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंतभेसजं ।
गिहिणो तं न आइक्खे, भूयाहिगरणं पयं ॥५१॥

नक्षत्र विद्या, स्वप्न विद्या, स्वप्नो का शुभाशुभ फल वतलाने वाली विद्या, वशीकरणादि विद्या, भूत भविष्य का फल वतलाने वाली निमित्त विद्या, भूत प्रेत आदि निकालने की मंत्र विद्या, अतिसार आदि रोगों की औषधी वतलाने वाली वैद्यक विद्या, गृहस्थों को नही वतावे, क्योंकि ये सव प्राणियो के अधि-करण के स्थान हैं अर्थात् इनकी प्ररूपणा करने से छहकाय जीवों की हिंसा होती है ॥५१॥

अण्णट्ठं पगडं लयणं, भइज्ज सयणासणं ।
उच्चारभूमिसंपण्णं, इत्थीपसुविवज्जियं ॥५२॥

जो मकान गृहस्थ ने अपने निज के लिए वनाया हो अर्थात् जो मकान साधु के निमित्त न वनाया गया हो तथा मलमूत्रादि परठने के स्थान से युक्त हो और जो मकान स्त्री पशु पण्डक आदि से रहित हो, ऐसे मकान मे साधु ठहरे और इसी तरह जो शय्या, पाट, वाजोठ आदि गृहस्थ ने अपने निज के लिए वनाये हों, उन्हे साधु अपने उपयोग मे ले सकता है ।५२॥

विवित्ता य भवे सिज्जा, नारीणं न लवे कहं ।
गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं ॥५३॥

शय्या–वसति स्थान यदि जनशून्य हो, तो वहा पर स्त्रियों से बातचीत नही करे और न उन्हे धर्मकथा आदि सुनावे तथा गृहस्थो के साथ विशेष परिचय नही करे, किन्तु साधुओ के साथ परिचय करे ॥५३॥

जहा कुक्कुडपोयस्स, णिच्चं कुललओ भयं ।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥५४॥

जिस प्रकार मुर्गी के बच्चे को हमेशा बिल्ली से भय बना रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्री के शरीर से भय मानते रहना चाहिए ॥५४॥

चित्तभित्तिं न णिज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥५५॥

साधु, वस्त्राभूषणो से अलंकृत अथवा बिना अलंकृत कैसी भी स्त्री हो उसको अनुरागपूर्वक नही देखे, यहाँ तक कि भीत पर चित्रित की हुई स्त्री को भी नही देखे । यदि कदाचित् अकस्मात् उधर दृष्टि पड़ जाय, तो जिस प्रकार सूर्य को देख कर लोग अपनी दृष्टि को तत्काल हटा लेते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष भी अपनी दृष्टि को तत्काल हटा लेवे । क्योंकि जिस प्रकार सूर्य की तरफ अधिक देर तक देखने से दृष्टि कमजोर हो जाती है, ठीक उसी प्रकार स्त्री की तरफ अनुराग पूर्वक देखने से साधु के चारित्र मे निर्बलता आ जाती है ॥५५॥

हत्थपायपलिच्छिन्नं कण्णनासविगप्पियं
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥५६॥

जिस स्त्री के हाथ पैर कटे हुए हों और नाक कान कटी हुई हो अथवा विकृत होगई हो, जो सौ वर्ष की आयु वाली-पूर्ण वृद्धा एवं जर्जरित शरीर वाली होगई हो, ऐसी बूढ़ी स्त्री के संसर्ग को भी ब्रह्मचारी साधु वर्जे, तो फिर तरुणी स्त्री की तो बात ही क्या है ? अर्थात् ब्रह्मचारी साधु को स्त्री मात्र के संसर्ग का त्याग कर देना चाहिए ॥५६॥

विभूसा इत्थीसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥५७॥

आत्मगवेषी अर्थात् आत्मकल्याण की इच्छा रखने वाले ब्रह्मचारी पुरुष के लिये शरीर की शोभा, स्त्री का संसर्ग गरिष्ठ भोजन, ये सब तालपुट नामक विष के समान हैं। जिस प्रकार तालपुट नाम का विष, तालु के लगते ही प्राणों को हर लेता है, उसी प्रकार शरीर की विभूषा आदि दुर्गुण भी साधु के चारित्र के गुणों को नष्ट कर देते हैं ॥५७॥

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न णिज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥५८॥

स्त्रियो के अंग और उपांग की रचना, मधुर बोलना, कटाक्ष विक्षेपादि युक्त मनोहर देखना अर्थात् तिरछी नजर, इन सब को ब्रह्मचारी पुरुष रागपूर्वक नही देखे, क्योकि ये सब कामविकार को बढ़ाने वाले हैं अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत का नाश करने वाले हैं ॥५८॥

विसएसु मणुण्णेसु, पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विण्णाय, परिणामं पुग्गलाणय ॥५९॥

उन शब्दादि विषय सम्बन्धी पुद्गलों को अनित्य जान कर बुद्धिमान् साधु, मनोज्ञ शब्दादि विषयो मे राग भाव नही करे और इसी तरह अमनोज्ञ शब्दादि विषयो मे द्वेष भी नही करे. क्योकि मनोज्ञ पदार्थ क्षणभर में अमनोज्ञ हो जाते है और इसी तरह अमनोज्ञ पदार्थ क्षण भर मे मनोज्ञ हो जाते है। ऐसी अवस्था मे राग भाव और द्वेष भाव करना व्यर्थ है।

पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं णच्चा जहातहा।
विणीयतिण्हो विहरे, सीईभूएण अप्पणा ॥६०॥

उन शब्दादि विषय सम्बन्धी पुद्गलो के परिणाम को यथावत्--जैसा है वैसा जान कर अर्थात् आज जो वस्तु सुन्दर दिखाई देती है, वह कल असुन्दर, और असुन्दर वस्तु सुन्दर दिखाई देने लगती है। इस प्रकार पुद्गलो के परिणाम को जान कर साधु, तृष्णा रहित होकर एव अपनी आत्मा को शान्त बना कर विचरे अर्थात् संयम मार्ग का आराधन करे।

जाइ सद्धाइ णिक्खंतो, परियायट्ठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरियसम्मए ॥६१॥

जिस श्रद्धा से एव वैराग्य भाव से उत्तम चारित्र यानी प्रव्रज्या को स्वीकार किया है, उसी श्रद्धा और पूर्ण वैराग्य से महापुरुषो द्वारा बताये गये उत्तम गुणो मे अनुरक्त रह कर

साधु को संयमधर्म का यथावत् पालन करना चाहिए ॥६१॥

तवं चिमं संजमजोगयं च,
सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाइ समत्तमाउहे,
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ॥६२॥

जिस प्रकार चतुरगिनी सेना से घिरा हुआ तथा शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित शूरवीर पुरुष, सग्राम मे अपनी रक्षा करता हुआ दूसरों की भी रक्षा करता है, उसी प्रकार बारह प्रकार के अनशनादि तप और छह जीवनिकाय की रक्षा रूप सतरह प्रकार का सयम तथा आगम के पठनपाठन रूप स्वाध्याय योग का सदा आराधन करने वाला मुनि, अपनी आत्मा की रक्षा एवं कल्याण करने मे समर्थ होता है और दूसरो की रक्षा एवं कल्याण करने में भी समर्थ होता है। वह अपनी आत्मा की रक्षा करता हुआ कर्म रूपी शत्रुओ का नाश करने मे समर्थ होता है ॥६२॥

सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो,
अपावभावस्स तवे रयस्स ।
विसुज्झई जं सि मलं पुरेकडं,
समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥६३॥

जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाये हुए सोने चाँदी का मैल दूर हो जाता है, उसी प्रकार वाचना आदि पांच प्रकार

की स्वाध्याय और धर्मध्यान शुक्लध्यान में तल्लीन, छह काय जीवो के रक्षक, निष्पापी–शुद्ध अन्त करण वाले और तपस्या मे रत साधु का पूर्वभव संचित पाप रूपी मैल नष्ट हो जाता है।

से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए,
सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे।
विरायई कम्मघणम्मि अवगए,
कसिणब्भपुडावगमे व चंदिमे ॥६४॥ त्ति बेमि।

जिस प्रकार सम्पूर्ण बादलो के हट जाने पर शरत्कालीन पूर्णमासी का चन्द्रमा शोभित होता है, उसी प्रकार गुणों का धारक, अनुकूल प्रतिकूल सभी परीषहो को समभाव पूर्वक सहन करने वाला, जितेन्द्रिय, श्रुतज्ञान से युक्त, ममत्व भाव से रहित, द्रव्य और भाव परिग्रह से रहित वह साधु, ज्ञानावरणीयादि कर्म रूपी बादलो के दूर हो जाने पर निर्मल केवलज्ञान के प्रकाश से सुशोभित होता है ॥६४॥

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते है कि हे आयुष्यमन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना है, वैसा ही मैंने तुमसे कहा है।

— आठवा अध्ययन समाप्त :—

'विनयसमाधि' नामक नववां अध्य

पहला श्लोक

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥१॥

जो साधु, स्तम्भ अर्थात् जाति आदि के अभिमान से, क्रोध से, मायाचार से और निद्रा आदि प्रमाद से गुरु महाराज के पास विनय धर्म की शिक्षा प्राप्त नही करता है, तो वे अहंकारादि दुर्गुण उस साधु के ज्ञानादि सद्‌गुणो को उसी प्रकार नष्ट कर देते है, जिस प्रकार बांस का फल स्वय वास को नष्ट कर देता है अर्थात् जैसे वास के फल आने पर वास का नाश हो जाता है, उसी प्रकार साधु की आत्मा मे अविनय को उत्पन्न करने वाले अहकारादि दुर्गुण पैदा होने पर उसके चारित्र का नाश हो जाता है ॥१।

जे यावि मंदित्ति गुरुं विइत्ता,
डहरे इमे अप्पसुए त्ति णच्चा।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा,
करंति आसायण ते गुरूणं ॥२।

जो कोई साधु,गुरु को"यह मन्द बुद्धि है",ऐसा जान कर अथवा यह बालक है, यह अल्पश्रुत–थोड़ा पढा हुआ है, ऐसा मान कर गुरु की हीलना–निन्दा करते है, वे गुरु महाराज की आशातना करते है। जिससे उन्हे मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है।

पगईइ मंदा वि भवंति एगे,
डहरा वि य जे सुयबुद्धोववेया।
आयारमंता गुणसुट्ठिअप्पा,
जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा ॥३॥

कर्मों के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण बहुत से मुनि, वयोवृद्ध होने पर भी स्वभाव से ही मन्दबुद्धि होते है,तथा बहुत से छोटी अवस्था वाले साधु भी शास्त्रो के ज्ञाता एवं बुद्धिमान् होते है। इसलिए ज्ञान मे न्यूनाधिक होने पर भी सदाचारी, मूल गुण उत्तरगुणो का सम्यक् पालन करने वाले गुरुजनो का अपमान नही करना चाहिए, क्योकि जिस प्रकार अग्नि इधन को जला कर भस्म कर देती है,उसी प्रकार गुरुजनों की हीलना, उसके ज्ञानादि गुणो को नष्ट कर देती है अर्थात् गुरुजनो की आशातना करने से ज्ञानादि गुणों का नाश हो जाता है ॥३॥

जे यावि नागं डहरं ति णच्चा,
आसायए से अहियाय होइ।
एवायरियं पि हु हीलयंतो,
नियच्छइ जाइपहं खु मंदो ॥४॥

जो कोई मनुष्य 'यह छोटा बच्चा है,' ऐसा जानकर सांप को छेड़ता है अर्थात् लकड़ी आदि से उसे सताता है, तो वह उस सताने वाले के लिए अहितकारी होता है अर्थात् उसे काट खाता है, उसी प्रकार अल्प वय वाले आचार्य महाराज की हीलना करने वाला मन्द बुद्धि शिष्य ही एकेन्द्रियादि जातियों मे चला जाता है अर्थात् जन्म मरण के चक्र में फंस कर अनन्त संसारी बन जाता है ।।४।।

आसीविसो वा वि परं सुरुट्ठो,
किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा ।
आयरियपाया पुण अप्पसण्णा,
अबोहि आसायण नत्थि मुक्खो ।।५।।

आशीविष सर्प, अत्यन्त कुपित हो जाने पर भी प्राण-नाश से अधिक और क्या कर सकता है ? अर्थात् इससे अधिक और कुछ नही कर सकता । किन्तु जो शिष्य, पूज्यपाद आचार्य महाराज को अप्रसन्न करता है, वह शिष्य, आचार्य की आशातना करने से मिथ्यात्व को प्राप्त होता है, जिससे उसको मोक्ष की प्राप्ति नही होती ।।५।।

जो पावगं जलियमवक्कमिज्जा,
आसीविसं वावि हु कोवइज्जा ।
जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी,
एसोवमाऽसायणया गुरूणं ।।६।।

जो अभिमानी शिष्य, गुरु महाराज की आशातना करता है, वह उस पुरुष के समान है, जो जलती हुई अग्नि को अपने पैरो से कुचल कर बुझाना चाहता है, अथवा जो दृष्टि विष सर्प को कुपित करता है अथवा जो मूर्ख, जीने की इच्छा से हलाहल विष को खाता है ॥६॥

सिया हु से पावय नो डहिज्जा,
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे।
सिया विसं हालहलं न मारे,
न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥७॥

यदि कदाचित् अग्नि के ऊपर पैर रखने वाले पुरुष के पैर को अग्नि नही जलावे और कुपित बना हुआ सर्प भी नही काटे तथा हलाहल नामक तीव्र विष भी अपना असर नही दिखावे अर्थात् खाने वाले को नही मारे। यद्यपि ये सब बाते दुशक्य है, तथापि विद्याबल एवं मन्त्र बल से यदि कदाचित् ये बाते शक्य हो भी जाय, किन्तु गुरु महाराज की हीलना करने वाले को कभी भी मोक्ष प्राप्त नही हो सकता है ॥७॥

जो पव्वयं सिरसा भित्तुमिच्छे,
सुत्तं च सीहं पडिबोहइज्जा।
जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं,
एसोवमाऽसायणया गुरूणं ॥८॥

जो दुर्बुद्धि शिष्य, गुरु महाराज की आशातना करता है,

वह उस पुरुष के समान है जो पर्वत को मस्तक की टक्कर से फोड़ना चाहता है अथवा सोते हुए सिंह को लात मार कर जगाता है अथवा जो मूर्ख तलवार की तीक्ष्ण धार पर मुष्टि का प्रहार करता है ॥८॥

सिया हु सीसेण गिरिं पि भिंदे,
सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे।
सिया न भिंदिज्ज व सत्ति अग्गं,
न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥९॥

यदि कदाचित् कोई वासुदेवादि शक्ति शाली पुरुष, मस्तक की टक्कर से पर्वत को भी चूर चूर कर दे और कदाचित् लात मार कर जगाने से कुपित हुआ सिंह नही खावे तथा तलवार की तीक्ष्ण धार पर मुष्टि प्रहार करने पर भी हाथ नही कटे अर्थात् ये असम्भव बातें भी सम्भव हो जाय, किन्तु गुरु की हीलना करने वाले दुर्बुद्धि शिष्य को कभी भी मोक्ष प्राप्त नही हो सकता ॥९॥

आयरियपाया पुण अप्पसण्णा,
अबोहि आसायण नत्थि मुक्खो।
तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी,
गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ॥१०॥

पूज्यपाद आचार्य महाराज की आशातना करके उन्हे अप्रसन्न करने वाले अविनीत शिष्य को मिथ्यात्व की प्राप्ति

होती है, जिससे वह मोक्ष सुख का अधिकारी नही हो सकता। इसलिए मोक्ष के अव्याबाध सुख की चाह रखने वाला पुरुष, गुरु महाराज को प्रसन्न रखने में सदा प्रयत्नशील रहे ॥१०॥

जहाहिअग्गी जलणं नमंसे,
नाणाहुइमंतपयाभिसित्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥११॥

जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण, नाना प्रकार की घृतादि की आहुतियो से तथा वेदमत्रो से अभिषिक्त की हुई–धधकती हुई यज्ञ की अग्नि को नमस्कार करता है, उसी प्रकार अनन्त ज्ञान संपन्न हो जाने पर भी शिष्य को चाहिए कि वह आचार्य महाराज को नमस्कार करे और विनय पूर्वक सेवा करे ॥११॥

जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे,
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ,
कायग्गिरा भो मणसा य णिच्चं ॥१२॥

गुरु महाराज शिष्य का कर्त्तव्य वतलाते हुए कहते हैं कि हे शिष्य ! जिन गुरु महाराज के पास धर्मशास्त्रो की शिक्षा प्राप्त करे, उनकी सदा विनय भक्ति करे, दोनो हाथ जोड कर और मस्तक झुका कर नमस्कार करे और मन वचन काया से सदा सत्कार करे अर्थात् गुरु महाराज के आने पर खडा होना,

उन्हें वन्दना करना, उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करना आदि कार्यो से उनका विनय करे ।.१२॥

लज्जा-दया-संजम-बंभचेरं,
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति,
तेऽहं गुरू सययं पूययामि ॥१३॥

अधर्म के प्रति लज्जा-भय, दया-अनुकम्पा, संयम और ब्रह्मचर्य, ये सब कल्याणभागी अर्थात् अपनी आत्मा का हित चाहने वाले मुनि के लिए विशुद्धि के स्थान हैं। इसलिए शिष्य को सदा यह भावना रखनी चाहिए कि जो गुरु महाराज मुझे सदा उपरोक्त बातो की शिक्षा देते है, उन गुरु महाराज की मुझे सदा विनय भक्ति करनी चाहिए ॥१३॥

जहा णिसंते तवणच्चिमाली,
पभासई केवलभारहं तु ।
एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए,
विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥१४॥

जिस प्रकार रात्रि व्यतीत हो जाने पर अर्थात् प्रात काल का तेज से देदीप्यमान सूर्य, अपनी किरणो से सम्पूर्ण भारत-वर्ष को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार आचार्य महाराज अपने निर्मल ज्ञान और चारित्र द्वारा तथा तात्त्विक उपदेश द्वारा जीवादि पदार्थों को प्रकाशित करते हैं और जिस प्रकार

देवों में इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार आचार्य महाराज भी साधु-समुदाय मे शोभित होते हैं ॥१४॥

जहा ससी कोमुइजोगजुत्ता,
नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के,
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥१५॥

जिस प्रकार नक्षत्र और ताराओ के समूह से घिरा हुआ और कार्तिक पूर्णमासी को उदय हुआ चन्द्रमा, बादलों से रहित ऐसे निर्मल आकाश मे शोभित होता है, उसी प्रकार आचार्य महाराज, साधु समूह के मध्य मे शोभित होते हैं ॥१५॥

महागरा आयरिया महेसी,
समाहिजोगे सुयसीलबुद्धिए ।
संपाविउकामे अणुत्तराइं,
आराहए तोसइ धम्मकामी ॥१६॥

उत्कृष्ट ज्ञानादि भावरत्नो को प्राप्त करने की इच्छा वाला तथा श्रुत चारित्र रूप धर्म का अभिलाषी मुनि, ज्ञानादि रत्नों के भण्डार, श्रुत चारित्र और बुद्धि से युक्त ऐसे समाधिवत महर्षि आचार्य महाराज की आराधना करे और उनकी विनय भक्ति करके उन्हे प्रसन्न रखे ॥१६॥

सुच्चाण मेहावी सुभासियाइं,
सुस्सूसए आयरियप्पमत्तो ।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे,
से पावई सिद्धिमणुत्तरं ॥ त्ति बेमि ॥१७॥

गुरु महाराज के वचनों को यथार्थ रूप से धारण करने की बुद्धि वाला विनीत शिष्य, तीर्थङ्कर भगवान् द्वारा फरमाये हुए विनयआराधना के शिक्षाप्रद वचनो को सुन कर,प्रमाद रहित होकर आचार्य महाराज की सेवा शुश्रूषा करे । इस प्रकार सेवा करने से वह विनीत शिष्य, अनेक सद्‌गुणो को प्राप्त करके उत्तम–सर्वश्रेष्ठ सिद्धगति को प्राप्त होता है–ऐसा मै कहता हूँ ।

॥ नववें अध्ययन का पहला उद्देशक समाप्त ॥

दूसरा उद्देशक

मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुविंति साहा ।
साहाप्पसाहा विरूहंति पत्ता,
तओ सि पुप्फं च फलं रसो य ॥१॥

वृक्ष के मूल–जड़ से स्कन्ध–धड़ उत्पन्न होता है । इनके बाद स्कन्ध से शाखाएं उत्पन्न होती हैं । शाखाओंसे प्रशाखाए–

छोटी छोटी डालियां उत्पन्न होती है और उनसे पत्ते निकलते हैं। इसके बाद उस वृक्ष के क्रमश. फूल, फल और रस उत्पन्न होता है ॥१॥

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो।
जेण किर्त्ति सुयं सिग्घं, नीसेस चाभिगच्छइ ॥२॥

इसी प्रकार धर्म रूपी वृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम सर्वोत्कृष्ट फल मोक्ष है। उस विनय रूपी मूल द्वारा विनयवान् शिष्य, इस लोक मे कीर्ति और द्वादशाग रूप श्रुतज्ञान को प्राप्त होता है। जिससे महापुरुषो द्वारा की गई परम प्रशंसा को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् क्रमश' अन्त मे नि.श्रेयस रूपी मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है ॥२॥

जे य चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीअप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा ॥३॥

जिस प्रकार जल के प्रवाह मे पड़ा हुआ काष्ठ इधर उधर गोते खाता है, उसी प्रकार जो मनुष्य क्रोधी, अभिमानी, दुर्वादी अर्थात् कठोर और अहितकारी वचन बोलने वाला, कपटी, धूर्त और अविनीत होता है, वह चतुर्गति रूप संसार के अनादि प्रवाह में वहता रहता है ॥३॥

विणयम्मि जो उवाएणं, चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमिज्जंति, दंडेण पडिसेहए ॥४॥

प्रियवचनादि किसी उपाय से आचार्य महाराज द्वारा

विनयधर्म की शिक्षा के लिए प्रेरित किये जाने पर जो अविनीत शिष्य क्रोध करता है, मानो वह अपने घर मे आती हुई दिव्य-अलौकिक लक्ष्मी को डडे से मार कर घर से बाहर निकालता है ॥४॥

तहेव अविणीयप्पा, उववज्झा हया गया ।
दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिया ॥५॥

अव दृष्टान्त द्वारा अविनय के दोष वतलाये जाते हैं-जैमे राजा महाराजाओ के सवारी करने योग्य हाथी घोडे अविनीतता के कारण अर्थात् स्वामी की आज्ञा का पालन नही करने के कारण भार ढोते हुए और अनेक प्रकार के दुःख पाते हुए देखे जाते हैं ॥५॥

तहेव सुविणीअप्पा, उववज्झा हया गया ।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढि पत्ता महाजसा ॥६॥

अब दृष्टान्त द्वारा विनय के गुण वताये जाते हैं-जैसे स्वामी की आज्ञा का पालन करना आदि अच्छी शिक्षा पाये हुए राजा महाराजाओ के सवारी करने योग्य हाथी घोड़े, नाना प्रकार के आभूपणो से सुसज्जित, प्रगसा प्राप्त, महा यगस्वी होकर अनेक प्रकार के सुख भोगते हुए देखे जाते है ।६।

तहेव अविणीअप्पा, लोगंसि नरनारिओ ।
दीसंति दुहमेहंता, छाया ते विगलिंदिया ॥७॥

जिस प्रकार तिर्यञ्चों के विपय मे विनय और अविनय

के गुण दोष वताये गये हैं, उसी प्रकार अब मनुष्यों के विषय में वताया जाता है। जैसे कि इस लोक मे जो स्त्री और पुरुष अविनीत होते हैं, वे कोड़े आदि की मार से व्याकुल तथा विकलेन्द्रिय अर्थात् नाक आदि इन्द्रियो के काट दिये जाने से विरूप होकर नाना प्रकार के दु ख भोगते हुए देखे जाते हैं ॥७॥

दंडसत्थपरिजुण्णा, असब्भवयणेहि य ।
कलुणा विवण्णछंदा, खुप्पिवासपरिगया ॥८॥

अविनीत स्त्री पुरुष, दडे और शस्त्रो की मार से व्याकुल, कठोर वचनों से तिरस्कृत, दया के पात्र और पराधीन होकर भूख प्यास से व्याकुल वने हुए दुःख पाते देखे जाते हैं। उसी प्रकार अविनीत शिष्य भी दु खी होते हैं।

तहेव सुविणीअप्पा, लोगंसि नरनारिओ ।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढि पत्ता महायसा ॥९॥

इसी प्रकार लोक मे जो स्त्री और पुरुष विनीत होते हैं, वे सव ऋद्धि को प्राप्त, महायशस्वी और नाना प्रकार के सुख भोगते हुए देखे जाते हैं ॥९॥

तहेव अविणीअप्पा, देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिया ॥१०॥

जिस प्रकार तिर्यञ्च और मनुप्यो के विषय मे विनय और अविनय के गुण दोष वताये गये है, उसी प्रकार अव देवों के विषय मे वताया जाता है। जैसे कि जो जीव अविनीत होते

है, वे आयुष्य पूर्ण करके वैमानिक अथवा ज्योतिषी देव, यक्ष आदि व्यन्तर देव या भवनपति आदि गुह्यक देव होते है, फिर भी वे ऊची पदवी नही पाकर बड़े देवो के सेवक बनते है, और उनकी सेवा करते हुए तथा नाना प्रकार का दु ख भोगते हुए देखे जाते हैं, उसी प्रकार अविनीत शिष्य दु.खी होते है । ॥१० ॥

तहेव सुविणीअप्पा, देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिपत्ता महायसा ॥११॥

जो जीव सुविनीत होते हैं, वे समृद्धिशाली, महायशस्वी वैमानिक देव, यक्ष और भवनपति जाति के गुह्यक देव होकर सुख भोगते हुए देखे जाते हैं। जो जीव सुविनीत होते है, वे वैमानिक देव, यक्ष और भवनपति जाति के गुह्यक देव होकर उनमे भी समृद्धिशाली तथा महायशस्वी होते है और अलौकिक सुख भोगते हुए देखे जाते हैं ॥११॥

जे आयरियउवज्झायाणं, सुस्सूसावयणंकरा ।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ।१२।

जो शिष्य आचार्य और उपाध्यायजी महाराज की सेवा शुश्रूषा करते हैं और उनकी आज्ञा का सम्यक् पालन करते हैं, उनकी शिक्षा, जल से सींचे हुए वृक्षो की तरह दिन प्रतिदिन बढती रहती है ॥१२॥

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, सिप्पा णेउणियाणि य ।
गिहिणो उवभोगट्ठा, इहलोगस्स कारणा ॥१३॥

गृहस्थ लोग, इहलौकिक सुखो की प्राप्ति के लिए, अपने लिए अथवा पुत्र पौत्रादि के उपभोग मे आने के लिए, शिल्प-कला और व्यवहार कुशलता आदि सीखते हैं ॥१३॥

जेण बंधं वहं घोरं, परियावं च दारुणं ।
सिक्खमाणा नियच्छंति, जुत्ता ते ललिइंदिया ॥१४॥

लौकिक कला को सीखने मे लगे हुए, सुकोमल शरीर वाले श्रीमतो के पुत्र तथा राजकुमार आदि भी शिक्षा प्राप्त करते समय अनेक तरह की पीडाए भोगते हैं अर्थात् बेत आदि की मार को, रस्सी आदि के बन्धन को तथा कठोर परितापना आदि कष्टो को सहन करते है ॥१४॥

ते वि तं गुरुं पूयंति, तस्स सिप्पस्स कारणा ।
सक्कारंति नमंसंति, तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥१५॥

वे सुकोमल शरीर वाले राजकुमार आदि इतना कष्ट पाने पर भी शिल्प-कला को सीखने के लिए प्रसन्नता पूर्वक, उस शिल्पशिक्षक गुरु की आज्ञा का पालन करते है । वस्त्र आभूषणो द्वारा सत्कार सन्मान करते हैं, पूजा करते है और हाथ जोड कर प्रणाम करते है ॥१५॥

किं पुण जे सुयग्गाही, अणंतहियकामए ।
आयरिया जं वए भिक्खू, तम्हा तं नाइवत्तए ॥१६॥

जब लौकिक विद्या को सीखने के लिए भी राजकुमार आदि इस प्रकार गुरु की विनय भक्ति करते हैं, तो फिर जो

मुनि, आगमो के गूढ़ तत्त्वों के जिज्ञासु है तथा मोक्ष सुख को प्राप्त करने की इच्छा वाले है, उनका तो कहना ही क्या ? अर्थात् उन्हे तो धर्माचार्य की विनय भक्ति विशेष रूप से करनी ही चाहिए। इसलिए आचार्य महाराज जो आज्ञा फरमावे उस आज्ञा का उल्लघन नही करना चाहिए ॥१६॥

नीयं सिज्जं गइं ठाणं, नीयं च आसणाणि य।
नीयं च पाए वंदिज्जा, नीयं कुज्जा य अंजलिं ॥१७॥

विनीत शिष्य को चाहिए कि वह अपनी शय्या, अपने बैठने का स्थान और आसन, गुरु महाराज की अपेक्षा नीचा रक्खे, चलते समय भी गुरु के आगे आगे नही चले और नीचे झुक कर गुरु के चरणों मे वन्दना करे और नीचे झुक कर हाथ जोड़ कर नमस्कार करे ॥१७॥

संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि।
खमेह अवराहं मे, वइज्ज न पुणुत्ति य ॥१८॥

यदि कभी असावधानी से गुरु महाराज के शरीर के साथ तथा उनके धर्मोपकरणों के साथ सघट्टा—स्पर्श हो जाय, तो शिष्य को उसी समय कहना चाहिये कि हे भगवन् ! मेरा यह अपराध क्षमा कीजिये और फिर मैं ऐसा नही करूंगा।

दुग्गओ वा पओएणं, चोइओ वहई रहं।
एवं दुवुद्धिकिच्चाणं, वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥१९॥

जिस प्रकार दुर्वल—गलियार वैल, चावुक आदि की मार

पड़ने पर ही गाड़ी को खीचता है, उसी प्रकार दुष्ट बुद्धि अविनीत शिष्य भी गुरु के बारबार कहने पर ही उनके कार्य को करता है ॥१९॥

आलवंते लवंते वा, न निसिज्जाइ पडिसुणे ।
मुत्तूणं आसणं धीरो, सुस्सूसाए पडिसुणे ॥२०॥

गुरु महाराज, शिष्य को एक बार बुलावें अथवा वार-बार ब्रलावे, तो विनयवान् शिष्य को चाहिए कि वह अपने आसन पर बैठ बैठे ही गुरु महाराज की आज्ञा को सुन कर उत्तर नही देवे, किंतु शीघ्र आसन को छोड़ कर खड़ा हो जाय और सावधान होकर गुरु महाराज की आज्ञा को सुने और विनयपूर्वक उसका उत्तर देवे ॥२०॥

कालं छंदोवयारं च, पडिलेहित्ताण हेउहिं ।
तेण तेण उवाएणं, तं णं संपडिवायए ॥२१॥

विनीत शिष्य को चाहिए कि वह द्रव्य, क्षेत्र ,काल, भाव को और गुरु महाराज के अभिप्राय को अपनी तर्कणा शक्ति से जान कर उन उन उपायो से उन उन कार्यो को सम्पादित करे।

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य ।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥२२॥

अविनीत पुरुष के सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं और विनीत पुरुष को सद्गुणों की प्राप्ति होती है । ये दोनो बाते जिसने अच्छी तरह जान ली है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है ।

जे यावि चंडे मइइड्ढिगारवे,
पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे ।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए,
असंविभागी न हु तस्स मुक्खो ॥२३॥

जो पुरुष क्रोधी, बुद्धि और ऋद्धि का अभिमान करने वाला, चुगलखोर, साहसी—बिना सोचे विचारे कार्य करने वाला, गुरु की आज्ञा नही मानने वाला, धर्माचरण से रहित, अविनीत और असंविभागी—लाये हुए आहारादि को अपने संभोगी साधुओं मे नही बांट कर खाने वाला होता है, उसे मोक्ष प्राप्त नही होता है ॥२३॥

निद्देसवित्ती पुण जे गुरूणं,
सुअत्थधम्मा विणयम्मि कोविया ।
तरित्तु ते ओघमिणं दुरुत्तरं,
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥२४॥त्ति बेमि ।

जो गुरु महाराज की आज्ञा यथावत् पालन करने वाले हैं तथा जो श्रुतधर्म के गूढ़ तत्त्वो के रहस्यों को जानने वाले हैं और विनय करने मे चतुर होते हैं, वे इस दुस्तर संसार रूपी समुद्र को तिर कर और कर्मों को क्षय करके सर्वोत्तम सिद्धगति को प्राप्त करते हैं तथा उपरोक्त गुणो को धारण करने वाले पुरुषो ने गतकाल में सिद्धगति प्राप्त की है और आगामी काल में भी प्राप्त करेगे ।२४॥ ऐसा मैं कहता हूं ॥

॥ नववे अध्ययन का दूसरा उद्देशक समाप्त॥

तीसरा उद्देशक

आयरियं अग्गिमिवाहिअग्गी,
सुस्सूसमाणो पडिजागरिज्जा ।
आलोइयं इंगियमेव णच्चा,
जो छंदमाराहयई स पुज्जो ॥१॥

जिस प्रकार अग्नि होत्री ब्राह्मण, अग्नि की उपासना करने मे सावधान रहता है, उसी प्रकार जो शिष्य, आचार्य महाराज की सेवा शुश्रूषा करने में सदा सावधान रहता है तथा उनकी दृष्टि और इगिताकार–चेष्टा आदि से उनके अभिप्राय को जान कर उनकी इच्छा को पूर्ण करता है, वह साधु पूज्य होता है ॥१॥

आयारमट्ठा विणयं पउंजे,
सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो,
गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥२॥

जो शिष्य, आचार प्राप्ति के लिए गुरु महाराज की विनय भक्ति करता है और उनकी सेवा करता हुआ उनकी आज्ञा को स्वीकार करता है, एवं उनकी इच्छा के अनुसार कार्य करता है और जो गुरु महाराज की कभी भी आशातना नही

करता, वह पूज्य होता है ॥२॥

रायणिएसु विणयं पउंजे,
डहरा वि य जे परियाय जिट्ठा ।
नीयत्तणे वट्टइ सच्चवाई,
उवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥३॥

जो साधु, रत्नाधिको की सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय से बडे मुनियो की विनय भक्ति करता है और इसी प्रकार जो मुनि अवस्था में छोटे हैं, किन्तु दीक्षा में वडे है उनकी भी विनय भक्ति करता है, गुरुजनों के सामने नम्र भाव से रहता है, हित मित सत्य वोलता है, सदा गुरु की सेवा मे रहता हुआ उनकी आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य होता है ॥३॥

अण्णाय उंछं चरई विसुद्धं,
जवणट्ठया समुयाणं च णिच्चं ।
अलद्धुयं नो परिदेवइज्जा,
लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो ॥४॥

जो साधु, संयम यात्रा के निर्वाह के लिए सामुदानिक गोचरी करके अज्ञातकुल से—विना परिचय वाले घरों से थोडा थोडा निर्दोष आहार लेता है और यदि किसी समय आहार नही मिले, तो खेद नही करता है तथा इच्छानुसार आहार के मिलने पर अभिमान एव आत्म प्रशंसा नही करता है, वह

पूज्य होता है ॥४॥

संथारसिज्जासणभत्तपाणे,
अप्पिच्छया अइलाभेऽवि संते ।
जो एवमप्पाणभितोसइज्जा,
संतोसपाहण्णरए स पुज्जो ॥५॥

जो साधु संथारा, शय्या, आसन, आहार व पानी के अधिक मिलते रहने पर भी अल्प इच्छा रखता है, एवं उन मूर्च्छा भाव नहीं करता हुआ संतोष भाव रखता है। इस प्रका जो साधु अपनी आत्मा को सभी प्रकार से संतुष्ट रखता है वह पूज्य होता है ॥५॥

सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेणं ।
अणासए जो उ सहिज्ज कंटए,
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥६॥

धन आदि की प्राप्ति की आशा से मनुष्य लोहे तीक्ष्ण बाणों को भी सहन करनें में समर्थ हो जाता है, कि कानों में बाणों की तरह चुभने वाले कठोर वचन रूपी बाणो व सहन करना बहुत कठिन है, फिर भी जो उन्हे किसी भी प्रक की आशा के बिना समभाव पुर्वक सहन कर लेता है, वह पू होता है ॥६॥

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया,
अओमया तेऽवि तओ सुउद्धरा,
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥७॥

लोह के कांटे अर्थात् बाण तो थोड़े काल तक ही दुखदायी होते हैं, और वे जिस अंग मे लगे हैं, उस अग में से योग्य वैद्य द्वारा आसानी से निकाले भी जा सकते है, किन्तु कटु वचन रूपी बाणो का निकलना बहुत मुश्किल है अर्थात् हृदय मे चुभ जाने के बाद उनका निकलना दु साध्य है। क्योकि कठोर वचनो का प्रहार हृदय को विंध कर आरपार हो जाता है। वे कटु वचन रूपी बाण, इस लोक और परलोक मे वैर-भाव की परम्परा को बढाने वाले हैं तथा नरकादि नीच गतियों मे ले जाने वाले होने से वे महाभय को उत्पन्न करने वाले हैं।

समावयंता वयणाभिघाया,
कण्ण गया दुम्मणियं जणंति।
धम्मुत्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥८॥

समूह रूप से आते हुए कठोर वचन रूपी प्रहार, कान मे पड़ते ही दौर्मनस्य भाव उत्पन्न कर देते हैं अर्थात् कटु वचनो को सुनते ही मन को पीडा पहुँचने से भावना दुष्ट हो जाती है, किन्तु क्षमा करना साधु का धर्म है। ऐसा जान कर जो

साधु, उन कठोर वचन रूपी बाणों को समभाव पूर्वक सहन कर लेता है, वह वीर शिरोमणि है, वह जितेन्द्रिय है, ऐसा साधु जगत्पूज्य होता है ॥८॥

अवण्णवायं च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणीं अप्पियकारिणीं च,
भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो ॥६॥

जो साधु, किसी की पीठ पीछे तथा सामने निन्दा नही करता और पर पीड़ाकारी, निश्चयकारी और अप्रियकारी भाषा कभी नही बोलता, वह पूज्य होता है ॥६॥

अलोलुए अक्कुहए अमाई,
अपिसुणे या वि अदीणवित्ती ।
नो भावए नो वि य भाविअप्पा,
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥१०॥

जो साधु, जिव्हालोलुपी नही है, एवं किसी प्रकार का लोभ लालच नही करता है । मंत्रतंत्रादि का प्रयोग नही करता है, जो निष्कपट है, जो किसी की चुगली नही करता, जो भिक्षा नही मिलने पर भी दीनता नही दिखाता और जो दूसरों को प्रेरणा करके अपनी स्तुति नही करवाता और न स्वयं अपने मुह से अपनी प्रशसा करता है और जो कभी नाटक खेल तमाशे आदि देखने की इच्छा भी नही करता है, वह पूज्य होता है ॥१०॥

गुणेहिं साहू अगुणेहिऽसाहू,
गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥११॥

गुरु महाराज फरमाते है कि विनयादि गुणों को धारण करने से साधु होता है और अविनयादि. दुर्गुणों से असाधु होता है अर्थात् साधुपना गुणों पर और असाधुपना अवगुणो पर अवलम्बित है। अत हे शिष्यों ! साधु के योग्य गुणो को ग्रहण करो और असाधु गुणो को यानी दुर्गुणो को छोड़ो। इस प्रकार जो अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को समझा कर रागद्वेष नही करता, अपितु समभाव रखता है वह पूज्य होता है ॥११॥

तहेव डहरं च महल्लगं वा,
इत्थि पुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलए नो वि य खिसइज्जा,
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥१२॥

इसी प्रकार जो साधु, बालक और वृद्ध की, स्त्री या पुरुष की, साधु अथवा गृहस्थ की, किसी की भी एक वार दुर्वचन कहने रूप हीलना और वारवार दुर्वचन कहने रूप खिसना-चिढ़ाना, वचन नही कहता है तथा जो अभिमान और क्रोध नही करता अपितु उन्हे छोड़ देता है वह पूज्य होता है।

जे माणिया सययं माणयंति,
जत्तेण कण्णं व निवेसयंति।
ते माणए माणरिहे तवस्सी,
जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥१३॥

जो शिष्य, सदा गुरु महाराज को विनय भक्ति द्वारा सम्मानित करते हैं, तो गुरु महाराज भी विद्यादान द्वारा उन्हे योग्य बना देते हैं। जिस प्रकार माता पिता अपनी कन्या का विवाह योग्य पति के साथ करके उसे श्रेष्ठ कुल मे स्थापित कर देते है, उसी प्रकार गुरु महाराज भी उन शिष्यो को प्रयत्न-पूर्वक उच्च श्रेणी पर पहुँचा देते हैं। ऐसे सम्माननीय उपकारी पुरुषों की जो जितेन्द्रिय, सत्यपरायण तपस्वी शिष्य, विनय भक्ति करता है, वह पूज्य होता है ॥१३॥

तेसिं गुरूणं गुणसायराणं,
सुच्चाण मेहावी सुभासियाइं।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो,
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥१४॥

उन गुणो के सागर गुरु महाराज के सुभाषित–उपदेश को सुन कर जो, बुद्धिमान् साधु, पाँच महाव्रत और तीन गुप्तियो से युक्त होकर क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारो कषायो को छोड़ देता है और गुरु महाराज की विनयभक्ति करता हुआ शुद्ध सयम का पालन करता है, वह पूज्य होता है ॥१४॥

गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी,
जिणमयणिउणे अभिगमकुसले।
धुणिय रयमलं पुरेकडं,
भासुरमउलं गइं गओ ॥१५॥ त्ति बेमि ॥

निर्ग्रन्थ प्रवचनो का ज्ञाता, ज्ञान कुशल, विनीत एवं साधुओ की विनय वैयावच्च करने वाला मुनि, इस लोक में गुरु महाराज की निरन्तर सेवा भक्ति करके पूर्वकृत कर्मरज को क्षय करके अनन्त ज्ञान ज्योति से देदीप्यमान सर्वोत्कृष्ट सिद्धगति को प्राप्त करता है ॥१५॥ ऐसा मैं कहता हूँ ॥

॥ नववे अध्ययन का तीसरा उद्देशक समाप्त ॥

चौथा उद्देशक

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पण्णत्ता। कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पण्णत्ता? इते खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पण्णत्ता तंजहा–विणयसमाही सुयसमाही तवसमाही आयारसमाही।

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं

कि हे आयुष्मन् जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने इस प्रकार फरमाया था वह मैंने सुना है। जैसे कि इस जिन-शासन मे स्थविर भगवतो ने विनयसमाधि स्थान के चार भेद बतलाये है।

जम्बूस्वामी पूछते हैं कि हे भगवन् ! उन स्थविर भगवतों ने विनय समाधि स्थान के चार भेद कौन से बतलाये हैं ?

श्री सुधर्मास्वामी उत्तर फरमाते हैं कि हे आयुष्मन् शिष्य ! उन स्थविर भगवंतो ने विनय समाधिस्थान के ये चार भेद बतलाये हैं। जैसे कि—१ विनय समाधि, २ श्रुत समाधि, ३ तप समाधि, ४ आचार समाधि।

विणए सुए य तवे, आयारे निच्चपंडिया।
अभिरामयंति अप्पाणं, जे भवंति जिइंदिया॥१॥

जो जितेन्द्रिय साधु, विनय, श्रुत, तप और आचार में अपनी आत्मा को सदा लगाये रहते हैं, वे ही सच्चे पण्डित कहलाते है॥१॥

चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ तंजहा—१अणु-सासिज्जंतो सुस्सूसइ, २ सम्मं संपडिवज्जइ, ३ वेयमारा-हइ, ४ न य भवइ अत्तसंपग्गहिए। चउत्थं पयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो।

विनयसमाधि चार प्रकार की होती है, जैसे कि—१ गुरु

किसी भी कार्य के लिए कोमल या कठोर वचनों से आदेश देवे, तो उनके वचनों को आदर के साथ सुनने की इच्छा रखना। २ गुरु की आज्ञा को सुन कर उनके अभिप्राय को अच्छी तरह समझना। ३ इसके बाद गुरु की आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करना एवं श्रुत ज्ञान की आराधना करना। ४ अभिमान नही करना एवं आत्म-प्रशंसा नही करना। विनय समाधि के ये चार भेद हैं।

इस विषय मे एक श्लोक भी है। वह इस प्रकार है-

पेहेइ हियाणुसासणं, सुस्सूसई तं च पुणो अहिट्ठए।
न य माणमएण मज्जइ, विणयसमाहि आययट्ठिए ॥२॥

अपनी आत्मा का कल्याण चाहने वाला साधु, सदा हितकारी शिक्षा सुनने की इच्छा करे और गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करे और फिर उसी के अनुसार आचरण करे और कदापि अभिमान नही करे ॥२॥

चउव्विहा खलु सुयसमाही भवइ तंजहा-१ सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। २ एगग्गचित्तो भविस्सामित्ति अज्झाइयव्वं भवइ। ३ अप्पाणं ठावइ-स्सामित्ति अज्झाइयव्वं भवइ। ४ ठिओ परं ठावइस्सामि-त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। चउत्थं पयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो।

श्रुतसमाधि के चार भेद हैं। वे इस प्रकार हैं-१अध्ययन

करने से मुझे श्रुतज्ञान का लाभ होगा–ऐसा समझ कर मुनि अध्ययन करे। २ अध्ययन करने से चित्त की एकाग्रता होगी–ऐसा समझ कर मुनि अध्ययन करे। ३ मैं अपनी आत्मा को धर्म मे स्थिर करूँगा–ऐसा समझ कर मुनि अध्ययन करे। ४ यदि मैं अपने धर्म मे स्थिर होऊंगा, तो दूसरों को भी धर्म में स्थिर कर सकूगा–ऐसा समझ कर मुनि अध्ययन करे। श्रुतसमाधि के ये चार भेद होते हैं। इस विषय में एक श्लोक भी है। वह इस प्रकार है ;–

नाणमेगग्गचित्तो य, ठिओ य ठावइ परं।
सुयाणि य अहिज्जित्ता, रओ सुयसमाहिए ॥३॥

शास्त्रों का अध्ययन करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है। चित्त की एकाग्रता होती है। अपनी आत्मा को धर्म में स्थिर करता है और दूसरो को भी धर्म मे स्थिर करता है। इसलिए मुनि को सदा श्रुतसमाधि मे संलग्न रहना चाहिए।

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तंजहा–नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, २ नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, ३ नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, ४ नन्नत्थ णिज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। चउत्थं पयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो।

तप समाधि के चार भेद हैं। वे इस प्रकार है–१ इह-लौकिक सुखो के लिए एवं किसी लब्धि आदि की प्राप्ति के

लिए तपस्या नही करे। २-पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए तपस्या नही करे। ३ कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लाघा के लिए भी तपस्या नही करे। ४ कर्मों की निर्जरा के अतिरिक्त और किसी भी कार्य के लिए तपस्या नही करे। तप समाधि के ये चार भेद हैं। इस विषय में एक श्लोक भी है।

अब तप समाधि के विषय में एक श्लोक कहते है–

विविहगुणतवोरए णिच्चं, भवइ निरासए णिज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए।४।

मोक्षार्थी मुनि को चाहिए कि वह सदा तप-समाधि में संलग्न रहे तथा निरन्तर विवध गुण युक्त तप मे रत रहता हुआ वह मुनि, इहलौकिक और पारलौकिक सुखो के लिए आशा नही रक्खे, किन्तु केवल कर्मों की निर्जरा के लिए तप करे। इस प्रकार के तप से वह पूर्वसंचित पाप कर्मों को नष्ट कर डालता है ।।४।।

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ तंजहा–नो इह लोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, २ नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, ३ नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, ४ नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयार-महिट्ठिज्जा। चउत्थं पयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो।

आचार समाधि के चार भेद हैं। वे इस प्रकार हैं– १ इहलौकिक सुखो की प्राप्ति के लिए एवं लब्धि आदि की

प्राप्ति के लिए आचार का पालन नही करे। २ पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए आचार का पालन नही करे। ३ कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक—श्लाघा के लिए भी आचार का पालन नही करे। ४ जैन सिद्धान्त मे कहे हुए कारणो के अतिरिक्त किसी के लिए भी आचार का पालन नही करे, किन्तु आते हुए आश्रवो के निरोध के लिए आचार का पालन करे, क्योंकि किसी प्रकार की आशा नही रख कर आचार का पालन करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। ये आचार-समाधि के चार भेद हैं। इस विषय का एक श्लोक भी है। वह इस प्रकार है।

जिणवयणरए अतिंतिणे, पडिपुण्णाययमाययट्ठिए।
आयारसमाहिसंवुडे, भवइ य दंते भावसंधए ॥५॥

जिन वचनो पर अटल श्रद्धा रखने वाला, कठोर वचन नही बोलने वाला, शास्त्रों के तत्त्वों को भली भाँति जानने वाला, निरतर मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला, इन्द्रियों का दमन करने वाला, और आचार-समाधि द्वारा आश्रवो का निरोध करने वाला मुनि, शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।५।

अभिगमचउरो समाहिओ,
सुविसुद्धो सुसमाहिअप्पओ।
विउलहियं सुहावहं पुणो,
कुव्वइ य सो पयखेममप्पणो ॥६॥

निर्मल चित्त वाला, अपनी आत्मा को सयम में स्थिर

रखने वाला मुनि, चारों प्रकार की समाधियो के स्वरूप को जान कर अपनी आत्मा के लिए पूर्ण हितकारी, सुखकारी और कल्याणकारी निर्वाणपद को प्राप्त करता है ॥६॥

जाइमरणाओ मुच्चइ,
इत्थथं च चएइ सव्वसो ।
सिद्धे वा हवइ सासए,
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥७॥ त्ति बेमि ॥

उपरोक्त गुणो को धारण करने वाला मुनि, नरकादि पर्यायों का सर्वथा त्याग कर देता है अर्थात् नरकादि गतियों में नही जाता है, किन्तु वह जन्म मरण के चक्कर से छूट जाता है और शाश्वत सिद्ध हो जाता है अथवा यदि कुछ कर्म शेष रह जाते हैं, तो अल्प काम विकार वाला उत्तम कोटि का महान् ऋद्धिशाली अनुत्तर विमानवासी देव होता है ॥७॥

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना है, वैसा ही मैंने तुम से कहा है ॥

॥ नववे अध्ययन का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

॥ नववा अध्ययन समाप्त ॥
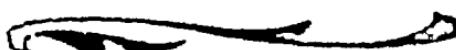
'सभिक्खू' नामक दसवां अध्ययन

निक्खममाणाइ य बुद्धवयणे,
निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा।
इत्थीण, वसं न यावि गच्छे,
वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥१॥

जो महापुरुषो के उपदेश से दीक्षा लेकर जिन वचनो में सदा स्थिर चित्त वाला होता है और स्त्रियो के वशीभूत नही होता है तथा वमन किये हुए—छोडे हुए कामभोगो को फिर स्वीकार करने की इच्छा नही करता है, वह शास्त्रोक्त विधि से तप द्वारा पूर्व संचित कर्मों को भेदन करने वाला, भिक्षु कहलाता है ॥१॥

पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पियावए।
अगणिसत्थं जहा सुनिसियं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥२॥

जो सचित्त पृथ्वी को स्वय नही खोदता है और दूसरो से नही खुदवाता है और खोदने वालो की अनुमोदना भी नहीं करता है। जो सचित्त जल को स्वय नही पीता है, दूसरो को नही पिलाता है और पीने वालों की अनुमोदना भी नही करता है। अग्नि को (जो खड्गादि तीक्ष्ण शस्त्र के समान है) स्वयं

नही जलाता है, दूसरों से नही जलवाता है और जलाने वालो की अनुमोदना भी नही करता है अर्थात जो पृथ्वीकाय अप्काय और तेउकाय की तीन करण तीन योग से हिंसा नही करता है, वह भिक्षु कहलाता है ।।२।।

अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो,
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ।।३।।

जो पखे आदि से स्वय हवा नही करता है, दूसरो से हवा नही करवाता है और हवा करने वालो की अनुमोदना भी नही करता है। तरु लता आदि वनस्पतिकाय का स्वयं छेदन नही करता है, दूसरों से छेदन नही करवाता है और छेद नकरने वालों की अनुमोदना भी नही करता है और यदि मार्ग मे सचित्त बीज आदि पडे हो,तो उन्हे वर्ज कर(बचा कर)चलता है और जो कभी भी सचित्त वस्तु का आहार नही करता है, न दूसरों को कराता है और सचित्त वस्तु का आहार करने वालों की अनुमोदना भी नही करता है, वह भिक्षु कहलाता है ।।३।।

वहणं तसथावराण होइ,
पुढवीतणकट्ठनिस्सियाणं ।
तम्हा उद्देसियं न भुंजे,
नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू ।।४।।

जो साधु, औद्देशिक आदि आहार को नहीं भोगता है, जो स्वयं अन्नादि को नहीं पकाता है, न दूसरों से पकवाता है और पकाने वालों की अनुमोदना भी नही करता है, वह भिक्षु कहलाता है। क्योकि भोजन पकाने से पृथ्वी, तृण और काष्ठ के आश्रय में रहे हुए त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है। इसलिए भिक्षु ऐसी प्रवृत्ति नही करता है ॥४॥

रोइअ नायपुत्तवयणे,
अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाए।
पंच य फासे महव्वयाई,
पंचासव संवरे जे स भिक्खू ॥५॥

जो ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के वचनो को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करके छह जीवनिकाय को अपनी आत्मा के समान मानता है और पांच महाव्रतो की सम्यक् आराधना करता है तथा पाच आश्रवों का निरोध करता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥५॥

चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी हविज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जायरूवरयए,
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥६॥

जो क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कषायों को त्यागता है। जो तीर्थङ्कर भगवान् के प्रवचनों मे सदा ध्रुवयोगी–अटल

श्रद्धा रखने वाला होता है। जिसने गाय भैस आदि चतुष्पदरूप धन तथा सोना चादी आदि सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया है और जो गृहस्थों के साथ अति परिचय नही रखता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥६॥

सम्मदिट्ठी सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तवे संजमे य ।
तवसा धुणइ पुराणपावगं,
मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥७॥

जो सम्यग्दृष्टि है और ज्ञान, तप और संयम के विषय मे जो सदा पूर्ण श्रद्धा एवं दृढ़ विश्वास रखता है, जो मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से युक्त है, और जो तपस्या द्वारा पूर्वोपार्जित पापकर्मो को नष्ट कर डालता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥७॥

तहेव असणं पाणगं वा,
विविहं खाइमं साइमं लभित्ता ।
होही अट्ठो सुए परे वा,
तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥८॥

जो विविध प्रकार के अशन, पान, खादिम, स्वादिम, आदि पदार्थों को प्राप्त करके, कल अथवा परसो या और कभी यह पदार्थ मेरे काम आयेगा, ऐसा विचार कर जो उसको सग्रह कर वासी नही रखता है, दूसरो से वासी नही रखवाता है और

बासी रखने वालों की अनुमोदना भी नही करता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥८॥

तहेव असणं पाणगं वा,
विविहं खाइमं साइमं लभित्ता।
छंदिय साहम्मियाण भुंजे,
भुच्चा सज्झायरए जे स भिक्खू ॥६॥

जो अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि पदार्थों को प्राप्त करके फिर अपने साधर्मी साधुओं को निमन्त्रण करके अथवा देकर के भोजन करता है और भोजन करके जो स्वाध्यायादि में रत रहता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥६॥

न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा,
न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते।
संजमे धुवं जोगेण जुत्ते,
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥१०॥

जो कलह उत्पन्न करने वाली कथा नही कहता, किसी पर क्रोध नही करता, इन्द्रियों को सदा वश में रखता है, मन को शान्त रखता है और जो सयम मे सदा तल्लीन रहता है, कष्ट पडने पर भी जो आकुल-व्याकुल नही होता है और कालोकाल करने योग्य प्रतिलेखना आदि कार्यों मे जो उपेक्षा नही करता है, वह भिक्षु कलाता है। १०॥

जो सहइ उ गामकंटए,
अक्कोसपहारतज्जणाओ य ।
भयभेरवसद्दसप्पहासे,
समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू ॥११॥

जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों को कांटे के समान दुःख उत्पन्न करने वाले कठोर वचन तथा प्रहार और ताड़ना तर्जनादि को समभावपूर्वक सहन कर लेता है और जहा अत्यन्त भय को उत्पन्न करने वाले भूत बेताल आदि के भयकर शब्द होते हों, ऐसे स्थानो मे भी जो निर्भय होकर ध्यानादि मे निश्चल बना रहता है और जो सुख दुख को समान समझ कर समभाव रखता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥११॥

पडिमं पडिवज्जिया मसाणे,
नो भीयए भयभेरवाइं दिस्स ।
विविहगुणतवोरए य निच्चं,
न सरीरं चाभिकंखए जे स भिक्खू ॥१२॥

जो सदा नाना प्रकार के मूलगुण और उत्तरगुणों में रत रहता है और श्मशान भूमि में मासिकी आदि भिक्षु पडिमा को स्वीकार करके ध्यान मे खड़ा हुआ जो मुनि, भूत वेताल आदि के भयकर रूप को देखकर एवं उनके भयंकर शब्दों को सुनकर भी नही डरता है, तथा जो अपने शरीर पर भी ममत्व भाव नही रखता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥१२॥

असइं वोसट्ठचत्तदेहे,
अक्कुट्ठ व हए लूसिए वा।
पुढविसमे मुणी हविज्जा,
अनियाणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू ॥१३

जो मुनि, कभी भी शरीर की विभूषा नही करता है, एव शरीर पर ममत्व भी नही रखता है। कठोर वचनो द्वारा आक्षेप किया जाने पर अथवा लकड़ी आदि से पीटा जाने पर अथवा शस्त्रादि से छेदन भेदन किया जाने पर भी जो पृथ्वी के समान समभाव पूर्वक सहन कर लेता है, तथा जो किसी तरह का नियाणा नही करता है और नाच गान आदि मे रुचि नही रखता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥१३॥

अभिभूय काएण परिसहाइं,
समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं।
विइत्तु जाइमरणं महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥१४॥

जो शरीर से परीषहो को जीत कर ससार समुद्र से अपनी आत्मा का उद्धार कर लेता है तथा जन्म मरण को महा भयकारी और अनन्त दुखो का कारण जान कर सयम और तप मे रत रहता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥१४॥

हत्थसंजए पायसंजए,

वायसंजए　　　संजइंदिए ।
अज्झप्परए　　सुसमाहिअप्पा,
सुत्तत्थं च विआणइ जे स भिक्खू ॥१५॥

जो हाथों से सयत है और पैरो से संयत है अर्थात् हाथ पैर आदि अवयवो को कछुए की तरह संकोच कर रखता है और आवश्यकता पड़ने पर यतनापूर्वक कार्य करता है । जो वचन से सयत है अर्थात् किसी को सावद्य एव परपीड़ाकारी वचन नही कहता है तथा जो सब इन्द्रियो को वश मे रखता है और अध्यात्म रस मे एव धर्म-ध्यान शुक्ल-ध्यान मे रत रहता है, जो अपनी आत्मा को सयम में लगाये रखता है, जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥१५॥

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे,
अण्णायउंछं　　पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसंनिहिओ　विरए,
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥१६॥

जो वस्त्र पात्र मुखवस्त्रिका आदि धर्मोपकरणो में मूर्च्छाभाव नही रखता है तथा जो किसी भी पदार्थ मे गृद्धि भाव नही रखता है एव सासारिक प्रतिबन्धो से अलग रहता है, अज्ञात घरो से माग कर भिक्षा लाता है सयम को निस्सार बनाने वाले दोषो का कदापि सेवन नहीं करता है, खरीदना

बेचना संग्रह करना आदि व्यापारिक कार्यों से जो सदा विरक्त रहता है और जो सब संग एवं आसक्तियो को छोड़ देता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥१६॥

अलोलभिक्खू न रसेसु गिज्झे,
उंछं चरे जीविय नाभिकंखे।
इड्ढिं च सक्कारणपूयणं च,
चए ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥१७॥

जो साधु, लोलुपता से रहित होकर किसी भी प्रकार के रसों मे आसक्त नही होता है, अज्ञात घरो मे गोचरी करता है अर्थात् अनेक घरो से थोड़ा थोड़ा आहार लेकर अपनी संयम-यात्रा का निर्वाह करता है। मारणान्तिक कष्ट पडने पर भी जो असयम जीवन की इच्छा नही करता है और जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा प्रतिष्ठा को नही चाहता है, जो माया कपट रहित होकर अपनी आत्मा को सयम मे स्थिर रखता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥१७॥

न परं वइज्जासि अयं कुसीले,
जेणं च कुप्पिज्ज न तं वइज्जा।
जाणिय पत्तेयं पुण्णपावं,
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥१८॥

जो किसी भी दूसरे व्यक्ति को—'यह दुराचारी है', ऐसा वचन नही बोलता है और ऐसे वचन जिन्हे सुन कर दूसरो को

क्रोध उत्पन्न हो, वैसे वचन कभी नही बोलता है। प्रत्येक जीव अपने अपने पुण्य पाप–शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सुख दुःख भोगते हैं, ऐसा जान कर जो अपने ही दोषो को दूर करता है तथा अपने आपको सब से वढ कर एवं उत्कृष्ट मान कर जो अभिमान नही करता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥१८॥

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता,
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥१९॥

जो जाति का मद नही करता है, रूप का मद नही करता है, लाभ का मद नही करता है और श्रुत अर्थात् शास्त्र-ज्ञान का मद नही करता है। इस प्रकार सब मदो को छोड़ कर धर्मध्यान मे सदा लीन रहता है, वह भिक्षु कहलाता है।

पवेयए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि।
निक्खम्म वज्जिज्ज कुसीललिंगं,
न यावि हासं कुहए जे स भिक्खू ॥२०॥

जो महामुनि, परोपकार की दृष्टि से शुद्ध एव सच्चे धर्म का उपदेश देता है। जो स्वय अपनी आत्मा को सद्धर्म मे स्थिर करके दूसरों को भी सद्धर्म मे स्थिर करता है तथा जो

दीक्षा लेकर आरभ समारम्भ रूप गृहस्थ की क्रिया को एवं कुसाधुओ के सग को छोड़ देता है और हास्य को उत्पन्न करने वाली कुचेष्टाएँ एव ठट्ठा मसकरी आदि नही करता है, वह भिक्षु कहलाता है ॥२०॥

तं देहवासं असुइं असासयं,
सया चए निच्च हिअट्ठिअप्पा।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं,
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥२१॥ त्ति बेमि ॥

मोक्ष रूपी हित एव कल्याण मार्ग मे अपनी आत्मा को सदा स्थिर रखने वाला साधु, इस अशुचि–अपवित्र और अशाश्वत शरीर को सदा के लिए छोड कर तथा जन्म मरण के बन्धन को काट कर, पुनरागमन रहित अर्थात् जहाँ जाकर फिर ससार मे लौटना नही पड़े, ऐसी सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है ॥२१॥

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना है, वैसा ही मैंने तुमसे कहा है ।

॥ दसवा अध्ययन समाप्त ॥

'रति वाक्य' नामक प्रथम चूलिका

इह खलु भो ! पव्वइएणं उप्पण्णदुक्खेणं संजमे अरइसमावण्णचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव हयरस्सि–गयंकुस–पोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारस-ठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवंति ।

गुरु महाराज कहते है कि हे शिष्यो ! दीक्षा लेने के बाद किसी समय शारीरिक कष्ट आ पड़ने पर यदि कदाचित् सयम में अरति उत्पन्न हो, जाय अर्थात् संयम मार्ग में चित्त का प्रेम न रहे और संयम छोड़ कर वापिस गृहस्थाश्रम मे चले जाने की इच्छा होती हो, तो सयम छोडने के पहले साधु को इन अठारह स्थानो का खूब अच्छी तरह से विचार करना चाहिए, क्योकि जिस प्रकार लगाम से चचल घोड़ा वश मे आ जाता है तथा अकुश से मदोन्मत्त हाथी वश मे आ जाता है और मार्ग भूल कर समुद्र मे इधर उधर गोते खाती हुई नौका, पतवार द्वारा ठीक रास्ते पर आ जाती है, इसी प्रकार आगे कहे जाने वाले अठारह स्थानों पर विचार करने से चचल एव डांवांडोल बना हुआ साधु का चित्त भी संयम मे पुन. स्थिर हो जाता है ॥

जीवन कुश के अग्रभाग पर रहे हुए जल बिन्दु के समान अ
चंचल एवं क्षणिक है। १७ हे आत्मन् ! निश्चय ही मैं
बहुत पापकर्म किये हैं अथवा मेरे बहुत ही प्रबल पापकर्मों व
उदय है, इसलिए सयम छोड देने के निन्दनीय विचार मे
हृदय मे उत्पन्न हो रहे हैं। १८ हे आत्मन् ! दुष्ट भोवो
तथा मिथ्यात्व आदि से उपार्जन किये हुए पहले के पापकर
के फल को भोगने के वाद हो मोक्ष होता है, किन्तु कर्मों का फ
भोगे बिना मोक्ष नही होता है अथवा तप द्वारा कर्मो का क्ष
कर देने पर ही मोक्ष होता है। ये अठारह स्थान है। इ
अठारह विषयो पर श्लोक भी है। वे इस प्रकार हैं।

जया य चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झइ ॥१॥

जव कोई अनार्य पुरुष, भोगो की इच्छा से संयम व
छोड देता है, तव कामभोगो में आसक्त वना हुआ वह अज्ञान
भविष्य काल के लिए जरा भी विचार नही करता है ॥१॥

जया ओहाविओ होइ, इंदो वा पडिओ छमं।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥२॥

जिस प्रकार देवलोक से चव कर पृथ्वी पर उत्पन्न
होने वाला इन्द्र, अपनी पूर्व ऋद्धि को याद कर पश्चात्ताप
करता है, उसी प्रकार जव कोई साधु, संयम से भ्रष्ट होकर
क्षान्ति आदि सव धर्मों से भ्रष्ट हो जाता है, तव वह पीछे
पश्चात्ताप करता है ॥२॥

जया य वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो ।
देवया व चुया ठाणा, स पच्छा परितप्पइ ॥३॥

जब साधु संयम में रहता है, तब तो सब लोगो का वन्दनीय होता है, किन्तु संयम छोड देने के बाद वही अवन्दनीय हो जाता है । जिस प्रकार इन्द्र द्वारा परित्यक्ता देवी पश्चात्ताप करती है, उसी प्रकार वह सयम भ्रष्ट साधु भी पीछे पश्चात्ताप करता है ॥३॥

जया य पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो ।
राया य रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ॥४॥

जब साधु संयम में रहता है, तब तो वह सब लोगों का पूजनीय होता है, किन्तु संयम छोड़ देने के बाद वह अपूजनीय हो जाता है । जिस प्रकार राज्य-भ्रष्ट राजा पश्चात्ताप करता है, उसी प्रकार वह साधु, संयम से भ्रष्ट हो जाने के बाद पश्चात्ताप करता है ॥४॥

जया य माणिमो होइ, पच्छा होइ अमाणिमो ।
सिट्ठिव्व कब्बडे छूढो, स पच्छा परितप्पइ॥५॥

जब साधु सयम मे रहता है, तब तो सब लोगों का माननीय होता है, किन्तु सयम से भ्रष्ट हो जाने के बाद अमाननीय हो जाता है । जिस प्रकार छोटे गाव मे अनिच्छा पूर्वक रहा हुआ सेठ पश्चात्ताप करता है, उसी प्रकार वह संयम-भ्रष्ट साधु भी पीछे पश्चात्ताप करता है ॥५॥

जया य थेरओ होइ, समइक्कंत जुव्वणो।
मच्छुव्व गलं गिलित्ता, स पच्छा परितप्पइ ॥६॥

जिस प्रकार लोहे के काँटे पर लगे हुए माँस को खाने के लिए मछली उस पर झपटती है, किन्तु गले में काटा फँस जाने के कारण वह पश्चात्ताप करती हुई मृत्यु को प्राप्त होती है, इसी प्रकार सयम से भ्रष्ट हुआ साधु, यौवनावस्था के बीत जाने पर जब वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, तब वह पश्चात्ताप करता है ॥६॥

जया य कुकुडुंबस्स, कुतत्तीहिं विहम्मइ।
हत्थी व बंधणे बद्धो, स पच्छा परितप्पइ ॥७॥

विषयभोगो के झूठे लालच मे फस कर सयम से पतित होने वाले साधु को जब अनुकूल परिवार एव इष्ट सयोगों की प्राप्ति नही होती, तब वह आर्त्तध्यान रौद्रध्यान करता हुआ अनेक प्रकार की चिन्ताओ से चिन्तत रहता है और बन्धन मे बंधे हुए हाथी के समान वह बराबर पश्चात्ताप करता है।

पुत्तदारपरिकिण्णो, मोहसंताणसंतओ।
पंकोसण्णो जहा नागो, स पच्छा परितप्पइ ॥८॥

पुत्र स्त्री आदि से घिरा हुआ और मोहपाश मे फँसा हुआ वह संयम भ्रष्ट साधु, बादमे कीचड मे फँसे हुए हाथी के समान बराबर पश्चात्ताप करता है ॥८॥

अज्ज आहं गणी हुंतो, भाविअप्पा बहुस्सुओ।

जइऽहं रमंतो परियाए, सामण्णे जिणदेसिए ॥९॥

संयम से पतित हुआ कोई साधु, इस प्रकार विचार करता है कि यदि मै साधुपना नही छोडता और भावितात्मा होकर जिनेश्वर देवों द्वारा प्ररूपित साधुधर्म का पालन करता हुआ शास्त्रो का अभ्यास करता रहता, तो आज मैं आचार्य पद पर सुशोभित होता ॥९॥

देवलोगसमाणो व, परियाओ महेसिणं ।
रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो ॥१०॥

जो महर्षि संयम में रत रहते हैं, उनके लिए संयम देवलोक के सुखो के समान आनन्द दायक होता है, किन्तु संयम मे रुचि न रखने वालो को संयम नरक के समान दुखदायी प्रतीत होता है ॥१०॥

अमरोवमं जाणिय सुक्खमुत्तमं,
रयाण परियाइ तहाऽरयाणं ।
नरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं,
रमिज्ज तम्हा परियाइ पंडिए ॥११॥

संयम मे रत रहने वाले महात्माओ के लिए संयम देवलोक के उत्तम सुखो के समान आनन्द दायक होता है, ऐसा जान कर तथा संयम मे रुचि न रखने वालों को वही संयम नरक के घोर दु.खों के समान दुखदायी प्रतीत होता है, ऐसा जान कर बुद्धिमान् साधु को चाहिए कि वह सदा संयम मार्ग

मे ही रमण करे ॥११॥

धम्माउ भट्ठं सिरिओ अवेयं,
जण्णग्गि विज्झायमिवऽप्पतेयं।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला,
दाढुड्ढियं घोरविसं व नागं ॥१२॥

यज्ञ की अग्नि जबतक जलती रहती है, तबतक उसे पवित्र समझ कर अग्नि-होत्री ब्राह्मण उसमे घृतादि डालते हैं और प्रणाम करते हैं, किन्तु जब वह बुझ कर तेज रहित हो जाती है, तब उसकी राख को बाहर फेंक देते हैं तथा जबतक सांप के मुख मे भयंकर विष को धारण करने वाली दाढाएं मौजूद रहती हैं, तबतक सब लोग उससे डरते हैं, किन्तु जब उसकी वे दाढाए मदारी द्वारा निकाल दी जाती है, तब उससे कोई नही डरता, प्रत्युत छोटे छोटे बच्चे भी उस सर्प को छेडते हैं और अनेक प्रकार का कष्ट पहुंचाते हैं। इसी प्रकार जबतक साधु, संयम का यथावत् पालन करता हुआ तप रूपी तेज से दीप्त रहता है, तबतक सब लोग उसकी विनय भक्ति एव सत्कार सन्मान करते हैं, किन्तु जब वही साधु, सयम से भ्रष्ट हो जाता है और तप रूपी लक्ष्मी से रहित होकर अयोग्य आचरण करने लग जाता है, तब आचारहीन सामान्य लोग भी उसकी अवहेलना, निन्दा एवं तिरस्कार करने लग जाते हैं ॥१२॥

इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती,
दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणम्मि ।
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो,
संभिण्णवित्तस्स य हिट्ठओ गई ॥१३॥

संयम धर्म से पतित, अधर्म का सेवन करने वाला, और ग्रहण किये हुए व्रतो को खण्डित करने वाला साधु, इस लोक मे अधर्म, अपयश और अकीर्ति को प्राप्त होता है और साधारण लोगो मे भी वदनामी एव तिरस्कार को प्राप्त होता है तथा परलोक में नरकादि नीच गतियों मे उत्पन्न होकर असह्य दु.ख भोगता है ।१३॥

भुंजित्तु भोगाइं पसज्झचेयसा,
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गइं च गच्छे अणभिज्झियं दुहं,
बोही य से नो सुलहा पुणो पुणो ॥१४॥

तीव्र लालसा एवं गृद्धिभाव पूर्वक भोगों को भोग कर तथा वहुतसे असंयम पूर्ण निन्दनीय कार्यों का आचरण करके जव वह संयम-भ्रष्ट साधु, कालधर्म को प्राप्त होता है, तब अनिष्ट एवं दु.खकारी नरकादि गतियो मे जाकर अनेक दु ख भोगता है। फिर उसे अनेक भवो मे भी वोधवीज—समकित एवं जिन-धर्म की प्राप्ति होना सुलभ नही है ॥१४॥

इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो,

दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं,
किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥१५॥

संयम मे आने वाले आकस्मिक कष्टो से घबरा कर संयम छोडने की इच्छा करने वाले साधु को इस प्रकार विचार करना चाहिए कि नरको मे अनेक बार उत्पन्न होकर मेरे इस जीव ने अनेक क्लेश एवं असह्य दु.ख सहन किये हैं और वहा की पल्योपम और सागरोपम जैसी दु.खपूर्ण लम्बी आयु को भी समाप्त कर वहां से निकल आया है, तो फिर मेरा यह चारित्र विषयक मानसिक दु ख तो है ही क्या चीज ? अर्थात् नरको में पल्योपम और सागरोपम की लम्बी आयु तक निरन्तर मिलने वाला अनन्त दु.ख कहाँ ? और इस सयमी जीवन मे कभी कभी आया हुआ थोड़ासा आकस्मिक दुःख कहाँ ? इन दोनों मे तो महान् अन्तर है। ऐसा सोच कर साधु को वह कष्ट समभावपूर्वक सहन कर लेना चाहिए॥१५॥

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ,
असासया भोगपिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणऽविस्सइं,
अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥१६॥

दुःख से घबरा कर सयम छोड़ने की इच्छा करने वाले साधु को ऐसा विचार करना चाहिए कि मेरा यह दु.ख बहुत

काल तक नही रहेगा । भोग भोगने की लालसा से संयम छोड़ने की इच्छा करने वाले साधु को ऐसा विचार करना चाहिए कि जीव की भोग पिपासा–विषयवासना अशाश्वत है । यदि यह विषय-वासना इस शरीर में शक्ति रहते हुए नष्ट न होगी, तो मेरी वृद्धावस्था आने पर अथवा मृत्यु आने पर तो अवश्य नष्ट हो ही जायगी अर्थात् जब यह शरीर ही अनित्य है, तो विषय वासना नित्य किस प्रकार हो सकती है अर्थात् विषयवासना नित्य नही हो सकती है ॥१६॥

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिया,
उवितवाया व सुदंसणं गिरिं ॥१७॥

उपरोक्त रीति से विचार करने से जिसकी आत्मा, धर्म पर इतनी दृढ हो जाती है कि अवसर आने पर वह धर्म के लिए अपने शरीर को भी प्रसन्नतापूर्वक न्योछावर कर देता है, किंतु धर्म का त्याग नही करता है । जिस प्रकार प्रलयकाल की प्रचण्ड वायु भी सुमेरु पर्वत को चलित नही कर सकती है, उसी प्रकार चञ्चल इन्द्रियां भी मेरुपर्वत के समान दृढ उस पूर्वोक्त मुनि को संयम मार्ग से विचलित नही कर सकती है ॥१७॥

इच्चेव संपस्सिय बुद्धिमं नरो,
आयं उवायं विविहं वियाणिया।
काएण वाया अदु माणसेणं,
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिज्जासि।१८। त्ति बेमि

बुद्धिमान् साधु, उपरोक्त सब बातों पर भली प्रकार विचार करके तथा ज्ञानादि लाभ के उपायो को भली प्रकार जान कर, मन वचन और काया रूप तीन गुप्तियो से गुप्त होकर, जिनेश्वर देवों के वचनो पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए सयम का यथावत् पालन करे ॥१८॥

उपरोक्त अठारह स्थानो पर सम्यक् विचार करने से संयम से विचलित होता हुआ साधु का मन, पुन. सयम में स्थिर हो जाता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ प्रथम चूलिका समाप्त ॥

'विविक्त चर्या' नामक दूसरी चूलिका

चूलियं तु पवक्खामि, सुयं केवलिभासियं।
जं सुणित्तु सुपुण्णाणं, धम्मे उप्पज्जए मई॥१॥

मैं ऐसी चूलिका को कहता हूँ जो सर्वज्ञ प्रभु द्वारा

प्ररूपित है, श्रुतज्ञान रूप है और जिसे सुन कर पुण्यवान् जीवों को धर्म मे श्रद्धा उत्पन्न होती है ॥१॥

अणुसोयपट्ठिए बहुजणम्मि, पडिसोय-लद्ध-लक्खेणं ।
पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेणं ॥२॥

जिस प्रकार नदी मे गिरा हुआ काष्ठ, प्रवाह के वेग से समुद्र की ओर जाता है, उसी प्रकार बहुत से मनुष्य, विषय प्रवाह के वेग से संसार रूप समुद्र की ओर बहते है, किन्तु विषय-प्रवाह से छूट कर मोक्ष जाने की इच्छा रखने वाले पुरुषों को चाहिए कि वे अपनी आत्मा को सदा विषय-प्रवाह से दूर रक्खे ॥२॥

अणुसोयसुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहिआणं ।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥३॥

यह संसार अनुस्रोत के समान है अर्थात् विषय भोगों की तरफ ले जाने वाला है, इस संसार से पार होना प्रतिस्रोत कहलाता है । साधु पुरुषो का सयम प्रतिस्रोत है अर्थात् विषयों से निवृत्ति रूप है । इसकी तरफ प्रवृत्ति करना संसारी जीवों के लिए कठिन है, क्योकि संसारी जीव तो अनुस्रोत में ही सुख मानते हैं ॥३॥

तम्हा आयारपरक्कमेणं,
संवर-समाहि-बहुलेणं ।
चरिया गुणा य नियमा य,
हुंति साहूण दट्ठव्वा ॥४॥

इसलिए साधु को ज्ञानादि आचारों का पालन करने में प्रयत्न करना चाहिए और उसके द्वारा संवर और समाधि की आराधना करनी चाहिए और साधुओं की जो चर्या, गुण और नियम हैं उनका पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए ॥४॥

अनिएयवासो समुयाणचरिया,
अण्णायउंछं पइरिक्कया य।
अप्पोवही कलहविवज्जणा य,
विहारचरिया इसिणं पसत्था ॥५॥

अनियतवास अर्थात् किसी विशेष कारण के बिना एक ही स्थान पर अधिक न ठहरना, समुदानचर्या अर्थात् गरीब और श्रीमंत सभी के घरों से सामुदानिकी भिक्षा ग्रहण करना एवं अनेक घरों से थोड़ा थोड़ा आहार लेना, अज्ञात घरों से भिक्षा ग्रहण करना, स्त्री, पशु, पडग आदि से रहित एकान्त स्थान मे रहना और उपधि अर्थात् भण्डोपकरण थोडे रखना तथा किसी के साथ कलह न करना, यह विहार-चर्या तीर्थङ्कर भगवान् ने मुनियो के लिए प्रशस्त अर्थात् कल्याणकारी बतलाई है ॥५॥

आइन्न-ओमाण-विवज्जणा य,
ओसन्न–दिट्ठाहड-भत्तपाणे ।
संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू,
तज्जायसंसट्ठ जई जइज्जा ॥६॥

गोचरी के लिए जाने वाले साधु को चाहिए कि जहां जीमनवार हो रहा हो और आने जाने का मार्ग लोगों से खचाखच भरा हो ऐसे भीड भडक्के वाले स्थान मे तथा जहां स्वपक्ष और परपक्ष की ओर से अपमान होता हो, ऐसे स्थान मे गोचरी न जावे। साधु को उपयोग पूर्वक शुद्ध भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और दाता जो आहारादि दे रहा हो और दाता के हाथ और चमचा आदि खरड़े हुए हो, तो उन्ही खरड़े हुए हाथ और चमचा आदि से आहार ग्रहण कर सयम यात्रा का निर्वाह करते हुए विचरना चाहिए। उपरोक्त कल्याणकारी विहारचर्या तीर्थङ्कर भगवान् ने फरमाई है। इसलिए इसके पालन करने मे मुनियो को पूर्ण सावधानी रखते हुए यत्न करना चाहिए ॥६॥

अमज्जमंसासि अमच्छरीया,
अभिक्खणं निव्विगइं गया य।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी,
सज्झाय जोगे पयओ हविज्जा ॥७॥

साधु, मद्य और मास को दुर्गति का कारण समझ कर उनका सेवन नहीं करे। किसी से ईर्ष्या नही करे। वारवार विना कारण विगयो का सेवन नही करे। वारवार कायोत्सर्ग करना चाहिए और वाचना पृच्छना आदि स्वाध्याय मे सदा लगे रहना चाहिए ॥७॥

न पडिण्णविज्जा सयणासणाइं,
सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं।
गामे कुले वा नगरे व देसे,
ममत्तभावं न कहिं पि कुज्जा ॥८॥

मास-कल्पादि की समाप्ति पर जब साधु विहार करने लगे, तब शयन, आसन, शय्या, निषद्या तथा आहार पानी आदि किसी भी वस्तु के लिए गृहस्थो से ऐसी प्रतिज्ञा न करावे कि जब मैं वापिस लौट कर आऊँ, तब ये पदार्थ मुझे ही देना और किसी को मत देना। गाँव में अथवा कुल में, नगर मे अथवा देश में, कही पर भी साधु को ममत्व भाव न रखना चाहिए यहाँ तक कि वस्त्र पात्रादि धर्मोपकरणो पर एवं अपने शरीर पर भी ममत्वभाव न रखना चाहिए ॥८॥

गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा,
अभिवायणं वंदण पूयणं वा।
असंकिलिट्ठेहिं समं वसिज्जा,
मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥९॥

साधु, गृहस्थ की वैयावृत्य, अभिवादन–स्तुति, वन्दन –नमस्कार और पूजन अर्थात् वस्त्रादि द्वारा सत्कार आदि कार्य नही करे। जो संक्लेस रहित उत्कृष्ट चारित्र का पालन करने वाले साधु हैं, उन्ही के साथ रहे जिससे संयम की विराधना न हो ॥९॥

न वा लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
इक्को वि पावाइं विवज्जयंतो,
विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥१०॥

कदाचित् काल दोष से संयम पालन करने मे निपुण और अपने से अधिक गुणवान् अथवा अपने समान गुणो वाला कोई साथी साधु नही मिले, तो पाप कर्मों को वर्जता हुआ तथा कामभोगो मे आसक्त न होता हुआ, पूर्ण सावधानी के साथ अकेला ही विचरे, किन्तु शिथिलाचारी एव पासत्थो के साथ कदापि न विचरे ॥१०॥

सवच्छरं वा वि परं पमाणं,
बीयं च वासं न तहिं वसिज्जा ।
सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू,
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥११॥

वर्षा काल में चार मास और बाकी समय मे एक मास, एक स्थान पर रहने का उत्कृष्ट परिमाण है । इसलिए जहां पर चातुर्मास किया हो अथवा मासकल्प किया हो वहां पर दूसरा चतुर्मास अथवा मासकल्प नही करना चाहिए । किन्तु जहां चातुर्मास किया हो, वहा दो चातुर्मास छोड कर और जहा मास-कल्प किया हो वहां दो मास छोड, कर चातुर्मास या मासकल्प किया जा सकता है । क्योकि सूत्र और उनका अर्थ जिन

प्रकार आज्ञा दे उसी प्रकार सूत्रोक्त मार्ग से मुनि को प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥११॥

जो पुव्वरत्तावररत्तकाले,
संपेहए अप्पगमप्पएणं ।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥१२॥

साधु को रात्रि के पहले पहर मे और पिछले पहर मे अपनी आत्मा को अपनी आत्मा द्वारा सम्यक् प्रकार से देखना चाहिए अर्थात् आत्म-चिन्तन करते हुए इस प्रकार विचार करना चाहिए कि मैंने क्या क्या करने योग्य कार्य कर लिए हैं और कौन कौन से तपश्चरणादि कार्य मेरे लिए अभी बाकी हैं और वे कौन कौन से कार्य हैं जिनको करने की मेरे में शक्ति होते हुए भी प्रमाद आदि के कारण मै उनका आचरण नहीं कर रहा हूं ॥१२॥

किं मे परो पासइ किं च अप्पा,
किं चऽहं खलियं न विवज्जयामि ।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥१३॥

साधु को इस प्रकार विचार करना चाहिए कि जब मैं संयम सम्बन्धी कोई भूल कर बैठता हूं, तो दूसरे लोग अर्थात् स्वपक्ष और परपक्ष वाले सभी लोग मुझे किस प्रकार

घृणा की दृष्टि से देखते हैं और मेरी खुद की आत्मा क्या कहती है और मैं अपनी किन २ भूलो को अभी तक नही छोड़ सका हूँ और क्यो नही छोड़ सका हूँ ? अब मुझे इन सब भूलों को छोड़ कर संयम मे सावधान रहना चाहिए। जो साधु, इस प्रकार अच्छी तरह विचार एव चिन्तन करता है, वह भविष्य मे दोषो से छुटकारा पा जाता है अर्थात् फिर वह किसी भी प्रकार का दोष नही लगाता है ॥१३॥

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं,
काएण वाया अदु माणसेणं।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा,
आइण्णओ खिप्पमिवक्खलीणं ॥१४॥

जिस प्रकार उत्तम जाति का घोडा, लगाम का सकेत पाते ही विपरीत मार्ग को छोड कर सन्मार्ग पर चलने लग जाता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् साधु को चाहिए कि जब कभी किसी भी स्थान पर अपने मन वचन और काया को पाप कार्य की तरफ प्रवृत्त होते हुए देखे, तो तत्काल उसी समय उनको उस पापकार्य से खीच कर सन्मार्ग मे लगा दे ॥१४॥

जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स,
धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी,
सो जीवई संजमजीविएणं ॥१५॥

जिसने चञ्चल इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसके हृदय मे संयम के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं दृढ विश्वास है, जिस सत्पुरुष ने मन,वचन और काया रूप तीनो योगों को अच्छी तरह वश में कर लिया है, ऐसे महापुरुष को लोक मे प्रतिबुद्धजीवी अर्थात सयम मे सदा जागृत रहने वाला कहते हैं, क्योकि वह सदा संयम जीवन से ही जीता है ।।१५।।

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो,
-सव्विदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ।।१६।। त्ति बेमि।।

सब इन्द्रियो को वश मे रखने वाले सुसमाधिवन्त मुनियो को सदा अपनी आत्मा की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए,अर्थात उसे तप और सयम मे लगा कर पापकार्यों से उसे बचाना चाहिए, क्योकि जो आत्मा सुरक्षित नही है, वह जाति-पथ को प्राप्त होती है अर्थात् जन्म मरण के चक्कर मे फस कर ससार मे परिभ्रमण करती रहती है और सुरक्षित अर्थात् पाप-कार्यों से निवृत्त आत्मा, सब दु खो का अन्त करके मोक्ष को प्राप्त हो जाती है ।।१६।। ऐसा मैं कहता हूँ ।।

।। दूसरी चूलिका समाप्त ।।

।। दशवैकालिक सूत्र समाप्त ।।

संघ के प्रकाशन

	मूल्य	पोष्टेज
१ मोक्षमार्ग ग्रंथ	५-००	१-६६
२ उत्तराध्ययन सूत्र	२-००	०-४४
३ उववाइय सुत्त	२-००	०-४६
४ अंतगडदशा सूत्र	१-००	०-२५
५ स्त्रीप्रधान धर्म	०-२५	०-८
६ सुखविपाक सूत्र	०-२०	०-८
७ सामायिक सूत्र	०-०६	०-५
८ प्रतिक्रमण सूत्र	०-१७	०-०८
९ नन्दी सूत्र	१-००	०-२०
१० सूयगडांग सूत्र	१) अप्राप्य	०
११ आत्मसाधना संग्रह, (श्रीमोतीलालजीमांडोत की)	१-२५	०-३५

• • •